

# आशेह

परम पूज्य आचार्य प्रवर 1008 श्री रामलालजी म.सा.



राम चमक रहे भानु समाना

प्रकाशक :

**साधुमार्गी पब्लिकेशन**

अन्तर्गत - श्री अखिल भारतवर्षीय साधुमार्गी जैन संघ

ISBN : 978-93-86952-47-9

**आशेह**

प्रथम संस्करण : मई 2019

प्रतियाँ : 5000

मूल्य : 100/-

प्रकाशक

**साधुमार्गी पब्लिकेशन**

अन्तर्गत - श्री अखिल भारतवर्षीय साधुमार्गी जैन संघ

समता भवन, आचार्य श्री नानेश मार्ग,

श्री जैन पी.जी. कॉलेज के सामने, नोखा रोड

गंगाशहर, बीकानेर - 334401 (राज.)

दूरभाष : 0151-2270261

मुद्रक :

तिलोक प्रिंटिंग प्रेस, बीकानेर-

## प्रकाशकीय

आत्मा की वीणा पर कसे हुए अध्यात्म के तारों से निकलने वाला संगीत नित्य नवीन है। उस वीणा पर उत्पन्न होने वाली धर्म की सरगम अद्भुत रहस्यों को उद्घाटित करती है। उन गहन रहस्यों का अनुभव मात्र उसी साधक को होता है, जो उस वीणा पर अपने मस्तक को टिकाकर, उसी में तन्मय होकर, स्वयं को उस वीणा के प्रति समर्पित कर देता है।

वह साधक स्वयं को वीणा वादक नहीं मानता, वह स्वयं को एक शिक्षार्थी के रूप में प्रस्तुत करता है। वह नहीं कहता कि वीणा उसकी गोद में विराजमान है, वह कहता है कि मैं स्वयं इस वीणा की गोद में शिशुवत् बैठा हूँ। इस अहं शून्यता के साथ वीणा के तारों पर उत्पन्न सरगम का प्रतिपल आरोह उस समर्पित साधक को उच्च से उच्चतम स्थिति में लेकर जाने वाला होता है।

आत्मा की वीणा पर पांच अंगुलियां नहीं, अपितु पंच महाव्रत नित्य स्पर्शित होते हैं और सरगम को एक विशेष संगीत के सूत्र में पिरोते हैं। साधक उस मधुर संगीत में डूबकर आनंद विभोर हो जाता है। जैसे-जैसे वीणा के तारों पर साधक की अंगुलियां ऊर्ध्वगामी होती हैं, साधक का मन असीम ऊँचाइयों में उड़ने लगता है। संगीत के आरोह के साथ ही वह चला जाता है अनंत की ओर... फिर एक स्वर गूँजता है... उच्च स्थिति बनती है... और साधक का मन नश्वर संसार से उठकर शाश्वत सुख की हवाओं से तृप्त होने लगता है। साधक की आत्मा इस संगीत के आरोह के साथ ही निरंतर ऊर्ध्वगामी होती रहती है और एक दिन वह साधक आत्मा की वीणा से उत्पन्न संगीत में मग्न होकर, देह से विलग, परम आनंद को पाता है।

परम आनंद की यह स्थिति आत्मा के आरोह से संभव है। यह वीणा सामान्य वीणा नहीं, अंतस् की वीणा है। आत्म वीणा का संगीत जैसे-जैसे अध्यात्म की ओर आरोहित होगा, वैसे-वैसे वादक भी साधक के रूप में परिणत होगा और साधक की स्थिति अनंत सुख की चाह में ऊर्ध्वगामी होती चली जाएगी।

आचार्य पूज्य श्री रामलाल जी म.सा के दैनिक विचारों का यह संकलन मात्र विचार ही नहीं, बल्कि वह गहन रहस्य है जो कि आत्म वीणा पर पंच महाव्रतों के स्पर्शन से उद्घाटित हुए हैं। किसी साधक की उच्च स्थिति का एक संक्षिप्त परिचय हैं ये विचार। श्री अखिल भारतवर्षीय साधुमार्गी जैन संघ आचार्य पूज्य के विचारों को यथासंभव एकत्र कर पुस्तक के रूप में प्रस्तुत कर रहा है। इसे पढ़ कर लोगों की आत्म वीणा स्वतः झंकृत होकर आरोह को प्राप्त करे, इसलिए प्रस्तुत है- **आरोह**

## अहोभाव



## संघ के प्रति अहो भाव

हे पितृ तुल्य संघ! हे आश्रयदाता संघ!

संसार के प्रत्येक जीव की रक्षा के लिए सतत प्रयत्नरत संघ! तुम्हारी शीतल छांव तले हम अपने परिवार के साथ तप-त्याग से युक्त आध्यात्मिक, सुखद जीवन जी रहे हैं। तुम्हारे ही आश्रय में रहकर हमने अपने नन्हें चरणों को आध्यात्मिकता की दिशा में बढ़ाया है। तुमने ही हमें आत्मा के अन्वेषण हेतु प्रेरित किया। तुम्हारी ही प्रेरणा से प्रेरित होकर हमने अपने जीवन को सन्मार्ग की ओर बढ़ाया है। इस हेतु हम संघ का अभिवादन करते हैं।

संघ ने हम अकिंचन को इस पुस्तक '**आरोह**' के माध्यम से सेवा का अनुपम अवसर प्रदान किया। इस हेतु हम अपने आपको सौभाग्यशाली समझते हैं। अन्तर्भावना से संघ का आभार व्यक्त करते हुए यह विश्वास करते हैं कि भविष्य में भी परम उपकारी श्री संघ शासन हमें सेवा का अवसर प्रदान करता रहेगा।

अर्थ सहयोगी

**वीरपिता श्री सुरेन्द्रजी सेठिया की भावनानुसार उनके परिवार के सदस्य**

कोलकाता-लेकटाउन/बीकानेर



## अनुक्रम



समर्पण-श्रद्धेय से तादात्म्य	: 1	तुम क्या देख रहे हो ?	: 17
बाह्य प्रभाव से मुक्त रहो	: 2	परमात्मा का वास : मनायतन	: 18
न शिकायत न सफाई	: 3	मैत्री नहीं दोष देखती	: 19
अपना तंत्र अपने हाथ	: 4	मनुहार से न आए मस्ती	: 20
शान्ति के तीन सोपान	: 5	बूंद-बूंद से घट भरे	: 21
चार बार नहीं सौ वार सोचो	: 6	इशारों इशारों में	: 22
मन संकीर्ण न हो	: 7	सुखी जीवन का स्रोत	: 23
संवर का संरक्षित रूप	: 8	मोह का मर्दन - सुख का सर्जन	: 24
काम वह करें जो परिणाम दे	: 9	धर्म मंगल है	: 25
चुनौती से जागे शौर्य	: 10	परम-पवित्र करता धर्म	: 26
कैसी हो नेता की सोच	: 11	धर्म-अहिंसा आनन्ददायी	: 27
अननुभूत सुख : अव्याबाध	: 12	मज्झत्थो निजरा पेही	: 28
अनुभूति का महासागर : आत्म मस्ती	: 13	जो आकार प्रकट करे	: 29
धर्म तथ्य और कथ्य ?	: 14	परमार्थ का पवित्र पथ : धर्म	: 30
तन-मन पीड़ित कब ?	: 15	मेरा सिद्धत्व मुझ में कहाँ ?	: 31
मन को पहले मांज ले	: 16	किसकी शोभा क्या ?	: 32

एप्रिल-फूल-फूल सम खिलो	: 33	एकता परिवार से प्रारम्भ हो	: 55
सच्चाई से भय दूर भागे	: 34	जन्म दिन की खुशियाँ क्यों ?	: 56
सफलता के तीन सूत्र	: 35	संत दर्शन करना या होना ?	: 57
किं कर्तव्यम्	: 36	साधु जीवन सदा बहार	: 58
विषय की समझ पहली जरूरत	: 37	सर्जनात्मक सोच का परिणाम	: 59
किमालोचना : करणीया	: 38	किसकी पहचान किससे	: 60
ज्ञानी की हर क्रिया ज्ञानवर्धक	: 39	पण्डित की पहचान	: 61
अपनी पहचान बनाये रखना	: 40	जानकारियाँ अनुभूतियाँ बनें	: 62
ज्ञान बढ़े ज्ञानी की संगत	: 41	करें धर्म की पहचान	: 63
धर्म को जानने की दृष्टि पैदा हो	: 42	भावना वेगवती बनी रहे	: 64
परार्थी नहीं आत्मार्थी बनें	: 43	भौतिक सम्पदा के अधीन न हों	: 65
अहंकार के स्मारक	: 44	रहे न एक सी, रहो एक से	: 66
रुचि को रोशन करें	: 45	जवाबदारी का निर्वाह ईमानदारी से हो	: 67
धर्म सुने सो भागी जीव	: 46	धर्म-प्रवेश के कुछ बिन्दु (टिप्स)	: 68
मिथ्यात्व का बोझ कितना भारी ?	: 47	देखो-देखो और देखो	: 69
विशेष में जो सामान्य वही विशेष	: 48	साधना-निरन्तर प्रयत्न	: 70
इदं न मम	: 49	जैनं जयति शासनं पथ	: 71
चारित्र की धज्रियां उड़ाता चित्र	: 50	किं कर्तव्यं मया	: 72
सच्चे सुख की पहचान	: 51	ऊपर-ऊपर नहीं, गहरे में	: 73
साधक की कसौटी है समाधि	: 52	मिथ्यात्व क्या सम्यक्त्व क्या ?	: 74
अणगार सचमुच अणगार हो	: 53	पुण्य-पाप क्रिया से नहीं, भावों से	: 75
संघीय व्यवस्था लाभकारी	: 54	प्रश्न शृंखला	: 76

तथ्य को यथार्थ रूप दिया जाय	: 77	प्रेरणा प्रद सूई-डोरा	: 99
संसारी जीव गटर का रूप	: 78	योग्यता-प्रयोग और परिश्रम से	: 100
साधु तेरी क्या पहचान ?	: 79	एक स्रोत का चमत्कार	: 101
धर्म से क्या लाभ ?	: 80	जैनत्व की पहचान	: 102
साध-ना	: 81	कहाँ थे, कहाँ हैं, कहाँ होंगे	: 103
सुख का स्रोत तुझमें ही	: 82	डॉ. कोठारी का प्रश्न	: 104
मार्ग दर्शन का महत्व	: 83	बचाव का अमोघ शस्त्र	: 105
देखो संयम-रत्न खो न जाय	: 84	जिन और जिनागम आस्था के आधार	: 106
उत्तमत्ता-अवनत न हो	: 85	आत्मशक्ति जगे तो प्रभु भक्ति	: 107
अवरोधों को दूर करती-आस्था	: 86	अपाय का उपाय पहले	: 108
सत्य का स्वभाव कोमल	: 87	सोच समझ ही मुख्य	: 109
कर्म, कर्ता का अनुगामी	: 88	महावीर बनने का मार्ग	: 110
मन बुनता है मकड़ जाल	: 89	किस को कैसा होना चाहिये ?	: 111
दृष्टि सम्यगुणात्मक बने	: 90	अन्तर आह्लादकारी गुरु भक्ति	: 112
मान्यता की पकड़	: 91	संघ सेवा - सदा सुहागन	: 113
कहाँ डाले जाएं बीज ?	: 92	आत्मा तो आत्मा ही है	: 114
अध्यवसायिक हवा का प्रभाव	: 93	चेतना के दो स्तर	: 115
फर्क कोण का	: 94	राग की प्रकृति रूक्ष	: 116
अहंकार के स्मारक	: 95	अनन्यदर्शी आचार्य श्री नानेश	: 117
बुरा, न देखें, न सोचें, न करें	: 96	श्रद्धा के आँख एक	: 118
कैसे इस मन को समझाएं	: 97	स्वभाव प्राप्ति के सूत्र	: 119
जीवन के दो तट	: 98		

अपराध वृत्ति का उपचार	: 120	निर्ममत्व-निरहंकार भाव का महत्व	: 134
हाथ न जले	: 121	शब्दों से सम्बन्ध नहीं संधते	: 135
सफलता के लिए उद्यम	: 122	जो टूट सकता है, झुक नहीं सकता	: 136
प्रज्ञा-पथ को परिष्कृत करें	: 123	जीवन के दो पहलू	: 137
संत निष्पक्ष ही रहे	: 124	बिना बीज फूल खिले ना	: 138
खुशहाली के पाँच सूत्र	: 125	अपने में अपनी उपस्थिति	: 139
सच्चे धर्म का स्वाद	: 126	इच्छा के साथ शक्ति की भी जरूरत:	140
श्रावक तेरी क्या पहचान ?	: 127		
कषाय की ओट में धर्मानन्द	: 128		
आत्म-रक्षा के तीन भेद	: 129		
कलम की नोक से सत्यार्थ प्रकटे	: 130		
सामुदायिक चेतना विकसित हो	: 131		
सत्य निष्ठा से जीवन जीएं	: 132		
संयोगों से मुक्त-संत होता चुस्त	: 133		



जालना  
04.03.2016  
फा. कृ. 10  
शुक्रवार

## समर्पण-श्रद्धेय से तादात्म्य

**स**मर्पणा-श्रद्धा का ही अपर नाम है या पर्यायवाची है, ऐसा यदि कहें तो शायद गलत नहीं होगा। समर्पणा, श्रद्धेय में स्वयं को लीन कर देना है। स्वयं में श्रद्धेय को अनुभव करना है। समर्पणा के तीन भेद हैं-मानसिक, वाचिक एवं कायिक। मन से समर्पणा का अर्थ होगा - तुझ में मुझ में भेद न मानूं। श्रद्धेय के साथ तादात्म्य सम्बन्ध। जैसे भगवान महावीर के प्रति गणधर श्री गौतम स्वामी का था। जैसे मृगावती भगवान महावीर में लीन हो गई थी। उसमें श्रद्धेय के आदेश-निर्देश के अनुसार ही वर्तन के भाव रहते हैं। अपनी कोई सोच-तर्क वहाँ काम नहीं करती। श्रद्धेय के प्रति अनन्य भाव बन जाता है। ऐसी अवस्था को मानसिक समर्पणा कहते हैं। वाचिक समर्पणा- वचन से जो व्यक्त होगा, वह श्रद्धेय के पक्ष में ही होगा। उनके विपरीत एक शब्द भी किसी भी परिस्थिति में व्यक्त नहीं हो सकता। मानसिक समर्पणा अत्यन्त सघन होती है तो वाचिक समर्पणा परिपुष्ट होती है। उसके लिए कह सकते हैं टंकी में जैसा पानी होता है वैसा ही नल में आयेगा। अर्थात् जैसा मन का भाव होगा, वैसा ही वचन में आता है। कायिक समर्पणा का तात्पर्य है-काया श्रद्धेय भक्ति-उनके अनुरूप कार्यों में ही प्रयुक्त होगी। उदाहरण के लिए हम गौतम स्वामी का वह क्षण लें जब उन्हें भगवान द्वारा कहा गया था-गौतम! तुम्हें देव शर्मा ब्राह्मण को प्रतिबोध देने जाना है। मन उद्वेलित नहीं हुआ। वचन से 'तथा' उच्चारण किया एवं उठकर चल पड़े। यह मनसा-वाचा-कर्मणा तीनों की समर्पणा का ज्वलन्त उदाहरण है।

समर्पणा से हमारे भीतर श्रद्धेय की शक्ति का संयोजन हो जाता है। अर्थात् हम उनकी शक्ति का अपने भीतर अनुभव करने लगते हैं। कभी उसका प्रत्यक्षीकरण हो पाता है तो कभी वैसा नहीं भी होता है किन्तु परीक्षा रूप से उसका असर अवश्यमेव होता है। इस संदर्भ में ध्यान रहे कि यदि मानसिक समर्पणा गहन नहीं हो पाई होगी तो वचन व काया में उसका परिणमन नहीं हो पायेगा। लोक दिखावे के लिए हम मुँह से समर्पणा का उच्चारण अवश्य करते हैं पर उसके अनुसार कार्य विधि सम्पन्न नहीं होती। हमारे तर्क वहाँ काम करने लगते हैं। परिणामस्वरूप श्रद्धेय की शक्ति से हम वंचित ही रह जाते हैं। हमारा प्रयत्न हो कि श्रद्धेय के प्रति मन में अन्यथा भाव पनपे नहीं।

जालना  
05.03.2016  
फा. कृ. 11  
शनिवार

## बाह्य प्रभाव से मुक्त रहो

**दुःख** का मुख्य और सशक्त कारण है बाह्य वातावरण से प्रभावित हो जाना। मेरे साथ किसी ने अनुकूल व्यवहार नहीं किया, उसका व्यवहार मुझे प्रतिकूल लग गया, अमुक ने मेरी बात को नकार दिया, अमुक ने भरी सभा में मेरा अपमान, इन्सल्ट कर दिया आदि अनेकविध बाह्य वातावरण से जब हम प्रभावित हो जाते हैं, हमें दुःख का संवेदन होने लगता है। यदि यथार्थ में विचार किया जाय तो बात स्पष्ट हो जायेगी कि उक्त प्रकार के बाह्य वातावरण से मुझे जो ठेस लगी, पीड़ा हुई, दुःख हुआ उसके पीछे मेरा ही अहंकार किसी न किसी रूप में रहा हुआ था। यदि मैंने अपने अहंकार को एक किनारे रख दिया होता तो जो दुःख का मुझे संवेदन हुआ, वह नहीं होता। जब मैं स्वयं अहंकार को छोड़ नहीं पाता तब दूसरे से क्यों अपेक्षा की जाय कि वह ऐसा करे, वैसा करे।

दूसरों से जो करवाना चाहते हो उसका प्रयोग पहले स्वयं पर करो। स्वयं का अनुभव क्या बनता है, उसे देखो। अपनी वृत्ति को मोड़ने में कितनी कठिनाई होती है, उस स्वात्मानुभव के आधार पर जान सकोगे कि अन्य को भी कितनी कठिनाई आ सकती है। मुझे यह भी चिन्तन करना चाहिये कि जैसे मैं अन्य से कुछ अपेक्षाएं रखता हूँ तो अन्य भी मेरे से कुछ अपेक्षाएं रखते होंगे। मैं उनकी अपेक्षाओं पर कितना खरा उतर रहा हूँ। यदि मैं उनकी अपेक्षाओं पर खरा नहीं उतर पा रहा हूँ तो पहले मुझे भी वैसी तैयारी करनी चाहिये। मैं यदि दूसरों की अपेक्षाओं पर खरा उतर गया हूँ तो अधिकांश संभावना है कि मुझे अन्य से शिकायत होगी ही नहीं और न ही मुझे दुःख ही होगा।

दुःख न हो इसका सुन्दर उपाय है, स्वयं को बाहर के वातावरण से मुक्त रखो। उसका प्रभाव अपने पर होने मत दो। यदि कोई कुछ भी कर रहा है तो उसके पीछे भी कोई कारण होगा। कर्तव्य दृष्टि से यदि किसी को निर्देश देना हो तो निर्देश दिये जा सकते हैं किन्तु प्रेशर नहीं। प्रेशर से प्रेशर पनपता है। मैंने यदि किसी पर प्रेशर-दबाव दिया तो उस दबाव का प्रतिबिम्ब, उस प्रेशर की प्रतिक्रिया मुझ पर अपना प्रभाव डाले बिना शायद न रहे। अतः उत्तम यही है कि बाह्य प्रभावों से स्वयं को मुक्त रखा जाय।

जालना  
06.03.2016  
फा. कृ. 12  
रविवार

## न शिकायत न सफाई

हमारी प्रवृत्ति न शिकायत की हो और न ही सफाई की। समुदाय को यदि परिवार मानते हैं तो उसमें सामान्य ऊँची-नीची बातें होती रहती हैं। व्यक्ति का लक्ष्य न भी हो तब भी कुछ अनोचित्य घट सकता है, उसके लिए बवाल नहीं मचाया जाना चाहिये। यदि किसी ने उद्देश्य पूर्ण तरीके से भी तुम्हारा अपकार किया हो तब भी तुम्हें उससे शिकायत नहीं होनी चाहिये। शिकायत आँखी वृत्ति का प्रतीक है। किसी की सामान्य सी चूक को यदि तिल का ताड़ बनाकर, उसे दबोचने की नीयत हो तो उस प्रकार के आतंक से किसी का मुँह तो बन्द किया जा सकता है पर दिल नहीं जीता जा सकता। दूसरी दृष्टि से विचार करें तो किसी के कृत्य की आलोचना करना, उसे बढ़ावा देना उस व्यक्ति को अति महत्व देता है। ऐसे प्रसंगों पर मौन ज्यादा लाभदायी होता है। मौन से सामने वाले को सोचने के लिए मजबूर होना पड़ता है। यदि किसी ने अनुचित कार्य किया हो, वैसा ही यदि सामने वाला भी करे तो दोनों में अन्तर ही क्या रह जायेगा? उस स्थिति में सज़न और दुर्जन का क्या भेद रह जायेगा? कथमपि नहीं। कोई उत्पात करे तो उसे क्षमा का पात्र समझना चाहिये। कहा जा सकता है ऐसे में तो उसकी उच्छृंखलता बढ़ती जायेगी, क्या वह उचित होगा? इस संदर्भ में थोड़ी देर के लिए समझ लें उसकी उच्छृंखलता बढ़ गई, इससे तुम्हारा क्या बिगड़ जायेगा? तुम यदि सहिष्णु बने रहे तो तुम्हें लाभ अवश्य होगा।

जैसे शिकायत का लक्ष्य नहीं होना चाहिये वैसे ही सफाई का लक्ष्य भी नहीं होना चाहिये। सफाई का अर्थ लीपापोती से है। लीपापोती से अपना बचाव हो सकता है पर जो तत्त्व भीतर में रह जायेंगे वे हानि करेंगे, यह सुनिश्चित है। यदि हमें उस हानि से स्वयं को बचाना है तो 'कडं कडेति य नो कडे न कडेत्तिय' के रूप में स्पष्ट होना चाहिये। ऐसी स्पष्टता मनोबल वर्धक होती है। उससे मनोबल सशक्त होता है। सुदृढ़ व्यक्ति ही चोट सह सकता है। अल्पवीर्य-अल्पसत्वी चोट को कहाँ सह जायेगा? वह तो उसका प्रतिकार करने में उद्यत हो जायेगा। तुम शक्ति को संवर्धित करो। एक चोट नहीं चोट पर चोट होती रहे तब भी तुम्हें वे चोटें हिला नहीं सके। ऐसा तभी संभव होगा जब न शिकायत की ही नीयत होगी और न सफाई की ही।

जालना  
06.03.2016  
फा. कृ. 12  
रविवार

## अपना तंत्र अपने हाथ

मर्यादा को बन्धन मानने वाला, उसमें छटपटाता है। उसे वह रास नहीं आता। वह ईहा-अपोह-मार्गणा की गवेषणा करता रहता है। यानी टोह में लगा रहता है कि कब अवसर प्राप्त हो और कब वह उससे छुटकारा पाये। इसके विपरीत जो मर्यादाओं को सुरक्षा कवच मानता है, वह उनका भली भाँति पालन करता है। यानी वह उन मर्यादाओं में कहीं भी सुराख नहीं होने देता। क्योंकि सुरक्षा घरे में थोड़ा भी सुराख सुरक्षा का भेदन करने में समर्थ होता है। एक सुराख नौका को डुबा देती है, वैसे ही मर्यादा कवच का छोटा सा छेद जीवन को असुरक्षित बना देता है। ऐसा सोचकर मर्यादाओं के सुरक्षा के लिए वह कटिबद्ध रहता है।

बुद्धि का प्रयोग करने के पहले व्यक्ति को बहुत अच्छी तरह सोच लेना चाहिये कि उसका परिणाम क्या होगा? क्योंकि इतिहास उठाकर जब भी कोई देखेगा तो इस बुद्धि का नृशंस ताण्डव दृश्य उसके समक्ष उभर जायेगा। रामायण-महाभारत में इस बुद्धि का ही खेल है। घर-परिवार-समाज में जो विविधताएं पैदा होती हैं उनमें मुख्यता इस बुद्धि की ही है। इसलिए इसका प्रयोग करने से पूर्व बहुत अच्छी तरह से विचार किया जाना चाहिये कि इसके प्रयोग का परिणाम क्या होगा? कुछ पूर्व की घटना पर ही यदि विचार करें तो इन्दिरा गांधी की हत्या व उसके बाद का उन्माद इसी बुद्धि का खेल था, जिसमें पता नहीं कितने निर्दोष लोग मारे गये। कितनी बहनों का सुहाग धुल गया तो कई माताओं की गोद सूनी हो गई। आतंकवाद को प्रोत्साहित करने वाली यही बुद्धि है। बुद्धि का सम्यक् दिशा में प्रयोग व्यक्ति को मुक्ति तक पहुँचाने में समर्थ होता है। अतः बुद्धि का प्रयोग सुविचारित होना चाहिये।

जीवन में एक बात का ध्यान अवश्य रखा जाय कि बुद्धि दूसरों के चलाये नहीं चलनी चाहिये। उसमें प्रकाश पैदा करना चाहिये कि वह स्वयं सोचने में समर्थ बन सके। जब तक पैरों पर बालक खड़ा नहीं होता तब तक वह बाप-भाई आदि की उंगली पकड़कर चल लेता है किन्तु वह प्रयत्न करता है कि स्वयं के बल पर चले व चलने भी लगता है। वैसे ही बुद्धि में उस सामर्थ्य को प्रकट करना चाहिये जो अपना तंत्र अपने हाथ में रख सके।

जालना  
07.03.2016  
फा. कृ. 13  
सोमवार

## शान्ति के तीन सोपान

**शान्ति**-अशान्ति, दोनों ही आत्म-अधिगत हैं। शान्ति स्वाभाविक गुण है, अशान्ति वैभक्तिक। आत्म-भाव में रहें तो शान्ति। बाह्य विषयों में अनुस्यूत होते ही अशान्ति व्याप्त होने लगती है। शान्ति के शिखर को पाने के लिए तीन सोपान हैं। पहला-जो तत्त्व तीर्थकरों ने जैसा कहा है, वैसा ही जानना व श्रद्धाना। दूसरा, सुदगुरु की प्राप्ति, तीसरा, शुद्ध आलम्बन स्वीकार करना।

तत्त्वों को जानना एवं उन पर श्रद्धा करना - पहला सोपान है। तत्त्व मुख्य रूप से दो हैं, जीव-अजीव। विस्तार की अपेक्षा तत्त्व सात-किंवा नौ हैं। उनका जो स्वरूप है, उसे जानना, समझना एवं श्रद्धाना करना। पुण्य को पुण्य रूप में व धर्म को धर्म रूप में। पुण्य सुखद फल देने वाला होता है जबकि धर्म आत्म-शान्ति, आत्म सुख प्रदायक है। तत्त्वों का ज्ञान-श्रद्धाना, पहला सोपान है। यहीं से जीव की अध्यात्म यात्रा प्रारम्भ होती है। गाइड के रूप में दूसरा सोपान गुरु की प्राप्ति है। दुनिया में उठने वाले, धन ऐंठने वाले गुरुओं की कमी नहीं है। सुदगुरु-जिसकी क्रिया का सार संवर हो, आगमधर हो, सम्यक्त्वी हो, साम्प्रदायी हो, अवंचक हो, स्वयं का अनुभव आधार हो। इस प्रकार के सुदगुरु का सानिध्य मिलना शान्ति रूपी मंजिल का दूसरा सोपान है। शान्ति का तीसरा सोपान है-शुद्धालम्बन आदरे। शुद्ध-आलम्बन यानी शुद्ध-आधार, जो कि देव के रूप में है। जो राग-द्वेष से रहित हैं, वे ही सच्चे आधार हो सकते हैं। रागी देव तिराने में समर्थ नहीं होते। अरिहंत भगवान ही शुद्ध-आधार हैं। वैसी अर्हता पाने के लिए प्रयत्न होना चाहिये। उससे भिन्न सारे सोच-विचार जंजाल रूप हैं, ऐसा मानना चाहिये। ऐसे उन सारे सोच-विचारों को तिलांजलि दे देना चाहिये। क्योंकि मंजिल के लिए चलना ही महत्वपूर्ण नहीं है। सही दिशा में चलना महत्वपूर्ण है। वैसे ही आलम्बन के अनुरूप ही सोच-विचार होना चाहिये। ऐसा होने पर निंदक और वंदक समान लगेगा। मणि और पाषाण भी उसे एक रूप ही नजर आयेंगे। यानी मणि के प्रति उसका कोई आकर्षण नहीं होगा। **'समो-निंदा पसंसासु तहा-माणवमाणओ'** की दिशा में उसका आत्म-भाव निखर उठता है। वह शान्त-प्रशान्त जीवन जीता हुआ स्वयं में मस्त रहता है।

जालना  
08.03.2016  
फा. कृ. 14  
मंगलवार

## चार बार नहीं सौ बार सोचो

**शि**क्षा की बात सुनने में अच्छी लगती है। कहने में भी अच्छी लगती है किन्तु आचरण में लाना बड़ा कठिन होता है। जीवन में आनन्द नहीं आने का कारण व्यक्ति स्वयं है। वह प्रशंसा प्रिय होता है। जिसे प्रशंसा प्रिय होती है, उसे जब अपमान या तिरस्कार का मुकाबला करना पड़े तो उसका अन्तर भीतर ही भीतर कचोटने लग जाता है। यह मनुष्य की कमजोरी है। इस कमजोरी को दूर करने के लिए शिक्षा दी जाती है कि तुम ऐसा प्रयत्न करो कि कोई कितना भी अपमान या तिरस्कार करे तुम्हारा अन्तर कचोटे नहीं। तुम्हारे भीतर पीड़ा न हो। यथार्थ में किसी के अपमान करने से तुम्हारा कुछ भी कम नहीं होता है। उसी प्रकार किसी के प्रशंसा करने से तुम्हें कुछ उपलब्ध होने वाला नहीं है। केवल थोड़े से शब्दों का ही प्रयोग है जिससे मन हर्ष का अनुभव कर लेता है या खिन्नता का। क्या तुम्हारा जीवन उन शब्दों के आधार पर ही टिका हुआ है? ध्यान रखो वे शब्द तुम नहीं हो। तुम्हारा अस्तित्व उनसे भिन्न है। तुम अपनी शक्ति को समझो।

अब तक संसार में भटकने का कारण भी यही है कि इन शब्दों के आधार पर हम बनते-बिगड़ते रहते हैं। साधु की पोशाक पहन करके भी यदि प्रशंसा-प्रिय बनी रही तो समझो हम राह पर नहीं हैं। हमारा रास्ता हमसे छूट चूका है। हमारा लक्ष्य वीतरागता है। निंदक-वंदक के प्रति एक भाव बन जाना। वंदक-निंदक के प्रति मन भिन्न है तो अभी मुक्ति दूर है। अभी और प्रयत्न की जरूरत है कि हम स्वयं को और साधें। प्रश्न हो सकता है कि कैसे साधें? स्वयं को साधने का अर्थ है कोई कितनी प्रशंसा करे उससे मन को पुलकित मत होने दो। स्वयं में अनुभव करो कि वस्तुतः मैं वैसा हूँ भी या नहीं। व्यक्ति, प्रशंसनीय तब होता है, जब वह स्वयं को जीत सके। यदि वह स्वयं को जीतने में समर्थ नहीं हो पा रहा हो, इन्द्रिय-विषयों का गुलाम ही बना हुआ हो तो वैसी स्थिति में कोई कितनी भी प्रशंसा करे, उस प्रशंसा से क्या भला होने वाला है? मंद मणियार प्रशंसा से मानव जीवन को हार गया। हमें उस राह पर बढ़ने से पहले चार बार नहीं सौ बार सोचना चाहिये।

जालना  
08.03.2016  
फा. कृ. 14  
मंगलवार

## मन संकीर्ण न हो

**सा**धु जीवन में चलने वालों को बहुत सावधान रहना चाहिये। यदि किसी के द्वारा उनका अपमान भी हो गया हो, अविनय हो गया हो तो उसे जग जाहिर नहीं करना चाहिये। स्वयं के कर्मों का उदय मानना चाहिये अथवा उसे परिषह उपस्थित हुआ जानकर सहन करना चाहिये। अमुक क्षेत्र के श्रावक ऐसे हैं, वे संतों को मान नहीं देते। किसी एक ही सम्प्रदाय के साधुओं को मान देते हैं। वे गोचरी पानी भी दूसरी सम्प्रदाय के साधुओं को नहीं बहराते आदि। ऐसी भाषा से लगता है वह साधु अन्तर में दुःखी हो गया है। साधु जीवन में दुःख का क्या काम ? कोई गोचरी बहरावे न बहरावे उसकी मर्जी। कोई मान दे न दे उसकी मर्जी। भगवान महावीर शकडाल पुत्र के घर पधारें उसने उस समय मान-सम्मान नहीं दिया। भगवान महावीर उससे खिन्न नहीं हुए। उन्होंने अपना पुरुषार्थ किया। एक समय आया जब वह भगवान का अन्तेवासी श्रावक बन गया। कोई कैसा ही व्यवहार करे साधु की मस्ती मंद नहीं पड़नी चाहिये। वह अपनी आत्म-मस्ती में रहे। किसी के द्वारा किया गया कोई भी व्यवहार ढोकर नहीं चले। अन्यथा वह उस भार से दबता जायेगा। सबसे उत्तम बात तो यह होगी कि उसके मन में उससे कोई विचार ही पैदा न हो। वह उस व्यवहार को अपने से जोड़े ही नहीं। उसे लगे ही नहीं कि कुछ हुआ है। वह अपने चित्त को वैसा ही बनाये रखे। यदि कदाचित्त कभी मन के किसी कोने में वह व्यवहार आ जाय तो उसे वहाँ जमने न दे। यदि एक बार किसी बात को जमाना शुरू कर दिया तो पता नहीं कितनी बातें वहाँ घर कर जायेगी। जैसे रूम में ज्यादा सामान भर दें तो उसमें स्थान संकीर्ण हो जायेगा। वैसे ही मन में ज्यादा बातें जमने लगेगी तो वह भी संकीर्ण हो जायेगा। उस स्थिति में उसमें दिव्य विचार कैसे पैदा हो पायेंगे ? अर्थात् नहीं हो पायेंगे। इसलिए मन में ऐसी वैसी किन्हीं बातों को जमायें नहीं। बल्कि मन को स्वस्थ रखा जाय। मन स्वस्थ रहेगा तो साधना को पुष्ट करने का अवसर प्राप्त होगा। साधना में वह रस पायेगा। परिणाम स्वरूप जिस उद्देश्य से साधना का पथ स्वीकार किया गया वह सफल हो पायेगा।

जालना  
09.03.2016  
फा. कृ. 15/1  
बुधवार

## संवर का संरक्षित रूप

**दू**ध चूल्हे पर चढ़ा हो नीचे आंच हो फिर भी उसमें ऊफान न आए, यह एक आश्चर्य हो सकता है। सामान्यतया ऐसा होता नहीं है। पर यदि ऐसा हो रहा है तो उसके पीछे कोई न कोई महत्वपूर्ण कारण होना चाहिये। उसमें से एक कारण दूध के बर्तन का फायर प्रूफ होना भी हो सकता है। यदि दूध के बर्तन को फायर प्रूफ बना दिया गया हो तो नीचे आंच होने पर भी उसके प्रभाव से दूध बचा हुआ है। इसलिए उसमें ऊफान नहीं आ रहा है। यह चमत्कार नहीं अपितु व्यवस्था का एक अंग है। यद्यपि दूध के बर्तन को सामान्यतया कोई फायर प्रूफ करता नहीं है। पर फायर प्रूफ हो तो निश्चित ही उसमें ऊफान नहीं आयेगा। यह आज के युग का कोई भी व्यक्ति समझ सकता है। जैसे दूध का बर्तन फायर प्रूफ हो तो दूध ऊफनेगा नहीं, वैसे ही यदि मन को बाह्य प्रभाव से मुक्त रखने का लक्ष्य बना लें तो मन में न ऊहापोह ही पैदा होगी और न विचलन ही। मन चंचल प्रायः करके बाह्य प्रभावों से होता है। संवर रूपी साधन से उसे सुरक्षित कर दिया जाय तो मन पर बाह्य प्रभावों का असर हो नहीं पायेगा। बरसाती पहनने से जैसे शरीर पानी से गीला नहीं होता, वैसे ही संवर तत्व के साधने से मन बाह्य प्रभावों से विचलित नहीं होगा।

मन की चंचलता का एक कारण अज्ञान भी है। तमस् में रहा हुआ मन सच्चाई को जान ही नहीं पाता। भारतीय संस्कृति का उद्घोष है- **'तमसो मा ज्योतिर्गमय।'** अन्धकार की तरफ नहीं ज्योति की तरफ बढ़ो। अंधकार अज्ञान है, ज्योति ज्ञान है। मन किन कारणों से चंचल होता है यह ज्ञात होने पर व्यक्ति उन कारणों को दूर करने में प्रयत्नशील बन सकता है। यदि वह उसके लिए प्रयत्नशील न बने तो समझना चाहिये अभी उसने केवल औपचारिक ज्ञान किया है। ज्ञान के प्रायोगिक रूप से ही उसका अनुभव हो पाता है, अन्यथा ज्ञान मात्र दिमागी बनकर रह जायेगा। कालेज के स्टुडेंट-छात्र को यह तब अनुभव हुआ जब एक संत से उसका वास्ता हुआ। कथ्य यह है कि छात्र संतों को राष्ट्र के लिए कलंक मानता था। एक बार एक संत से सामना होने पर उसने उनको खूब सुनाया। संत ने प्रश्न पूछा कोई माल को दोनों हाथों से लुटाए पर कोई लेने वाला हो ही नहीं तो माल किसका रहेगा ? इस प्रश्न से छात्र की बुद्धि तमस् से निकलकर ज्योतिर्मय बन गई। उसने आज समझा कि सहिष्णुता व धैर्य क्या होता है।



जालना  
10.03.2016  
फा. शु. 2  
गुरुवार

## काम वह करें जो परिणाम दें

**‘एक ही माता रे बेटे चार, चारां री गति न्यारी न्यारी’** यह पूर्ण सत्य है। एक माता की सन्तान होना ही समान विचारों का हेतु नहीं है। गति में भी एक माता की सन्तान होना प्रमाण या हेतु नहीं कहा जा सकता। विचारों के आधार पर गति बनती है। पर हाँ विचारों पर वातावरण का प्रभाव अवश्य देखा जाता है।

वर्तमान साधुओं को भिन्नाचार-संकलेशाचार की बातें सुनने में रस लेने के बजाय शिक्षा लेनी चाहिये। स्वयं में सावधान हो जाना चाहिये। चर्चा करने वाले को बढ़ावा देने के बजाय उसे बोध देना चाहिये। यह निश्चित है कि चर्चाओं के बल पर किसी को बदला नहीं जा सकता। चर्चाएं सामने वाले में ग्रन्थियाँ पैदा कर देती हैं, जिससे कार्य और जटिल बन जाता है। चर्चाओं के बजाय यदि आत्मीय भावों का संप्रेषण हो तो उससे अच्छे सुखद परिणाम आ सकते हैं। ज्यादातर लोग प्रेम-स्नेह से कही गई बात को महत्व देते हैं।

साधुता के प्रति जन-जन की सद्भावना काबिल-ए-तारीफ है। कुछ लोग साधुता को खुले दिल से स्वीकार करते हैं तो कुछ लोग दबी जुबान से। कुल मिलाकर विचार करने पर ऐसा प्रतीत होता है कि लोग क्वालिटि चाहते हैं। इससे एक सद्बोध मिला कि हम अपनी क्वालिटि को गिरने न दें। क्वालिटि को बराबर बनाए रखें। एक यह भी भाव जगा कि दूसरों को सुधारने से पहले घर वाले बिगड़ें नहीं इस पर विशेष ध्यान दिया जाय।

प्रतिक्रिया से परिणाम आ ही जायेंगे, ऐसा कहना अति साहस होगा। प्रतिक्रिया परिणाम नहीं देती ऐसा भी एकदम से नहीं कह सकते। पर इतना जरूर कहा जा सकता है कि प्रतिक्रिया से वांछित परिणाम संभव नहीं है। परिणाम देता है विश्वास, स्नेह, सौजन्य। प्रतिक्रिया से उक्त तीनों को चोट पहुँचती है। अतः यदि परिणाम चाहते हैं तो प्रतिक्रिया नहीं विश्वास, स्नेह, सौजन्य का माहौल बनाया

जालना  
11.03.2016  
फा. शु. 3  
शुक्रवार

## चुनौती से जागे शौर्य

**आ**ज जब मैंने पीछे मुड़कर देखा तो लगभग 23-24 वर्ष पूर्व का घटनाक्रम आँखों के समक्ष उभर गया। अतीत वर्तमान बन झलक रहा था। कैसा सुन्दर उपवन, जिसमें अनेक पौधों पर विविध पुष्प खिले हुए थे। एक फूल को भी कष्ट न हो, कोई उसे तोड़ने का उपक्रम करे यह तो सवाल ही नहीं उठता पर देखते ही देखते उपवन के पौधों को उखाड़ा जाने लगा। उस समय संघीय अनुशासन को भी देखा, जो तीक्ष्ण धार पर खरा उतर रहा था। उपवन के पौधों को तहस-नहस करने के भरसक प्रयत्नों के बावजूद उपवन को उजाड़ पाना संभव नहीं हो सका। तब और अब पर विचार करता हूँ तो वह उपवन पहले से भी और निखर कर अपनी सौरभ एवं सुषमा से शोभित हो रहा है। इससे एक बात स्पष्ट होती है कि आततायी कितना भी आतंक फैलाये वह उपचरित होता है। वह अल्पकालिक होता है। आतंक का अन्त निश्चित है। इतिहास के पृष्ठों से जापान व जर्मनी को देखें तो उजड़ा वतन खिल उठा। उसमें वहाँ के लोगों की सूझ-बूझ, साहस और परिश्रम के दर्शन किये जा सकते हैं। जब व्यक्ति के समक्ष चुनौती आती है तो साया शौर्य जागृत हो जाता है। चुनौती का मुकाबला करने का साहस जग जाता है। शायद संघ सदस्यों में भी वैसा ही कुछ साहस जगा होगा। संघ उत्थान के लिए उन्होंने कमर कस ली और लग गये संघ को उँचाई देने में। महापुरुषों का आशीष और वर्तमान साधु-साध्वी, श्रावक-श्राविकाओं का उत्साह ही इस उपवन को सुरभित करने में सफल बना है। सूझ-बूझ के साथ परिश्रम करने से क्या नहीं हो सकता? नेक नीयत से किया गया परिश्रम अपना रंग दिखाता ही है। मैं चाहूँगा साधुता की पौध सुरक्षित रहे ताकि उसमें सद्गुणों के पुष्प खिलते रहें। साधुता हमारे प्राणों से जुड़ जाय। समय नाम की हवा के झोंकों से उसे क्षति न पहुँचे इसके लिए जागरूक रहना होगा। समय सरकता रहता है। उसे रोका नहीं जा सकता। समय के प्रवाह में बहें नहीं, उसे साधें। उसे साध लिया तो समय के प्रभाव से प्रभावित होने के बजाय समय ही हमसे प्रभावित होगा।

## कैसी हो नेता की सोच

होम्योपैथ कालेज  
12.03.2016  
फा. शु. 4  
शनिवार

**कु**छ ही लोग महत्वपूर्ण हुआ करते हैं किन्तु कुछ ही व्यक्ति सब कुछ नहीं होते। यह निश्चित है कि नेतृत्व की क्षमता कुछ ही लोगों में पाई जाती है। सफल नेताओं की संख्या तो और भी कम मिलेगी। नेतृत्व को जनता की आवाज भी सुननी चाहिये। वह यदि कुछ ही व्यक्तियों तक सीमित हो जाय तो उससे बहुत बड़ी हानि की भी संभावना बनी रहती है। किसी भी विषय का सर्वे करना हो तो सभी वर्ग के व्यक्तियों को उसमें शामिल करना जरूरी है। यानी हर वर्ग के सदस्यों के विचारों को जानना जरूरी होता है। किसी वर्ग के विचारों को सुनकर किया गया सर्वे, सर्वे नहीं माना जा सकता। वह किसी एक वर्ग विशेष का विचार हो सकता है, सर्वे नहीं। सर्वे में अमीर-गरीब, स्त्री-पुरुष, युवा-बुजुर्ग, व्यापारी-किसान आदि सभी वर्गों के मत जाने जाते हैं। उसके आधार पर निष्कर्ष निकाला जाता है। नेतृत्व को भी किसी विषय में निर्णय लेना हो तो सर्वत्र अपनी दृष्टि को प्रसरित करना चाहिये। अनेक स्थलों पर, अनेक व्यक्तियों के मुख से जो सुना जा रहा है, उसमें वर्तमान नेतृत्व वर्ग पर विश्वास कम, असंतोष ज्यादा श्रुतिगत हो रहा है। इसमें कारण कुछ भी रहे हों किन्तु चिन्तन के लिए विषय तो बनता ही है। यद्यपि जहाँ पक्ष-विपक्ष होता है, वहाँ आलोचनाएं न हों यह संभव ही नहीं है। आलोचना होना ही किसी की सफलता या असफलता का हेतु नहीं है। उसमें भी देखना चाहिये कि आलोचना करने वाला कौन है, उसका स्वयं का नेचर कैसा है? कुछ व्यक्ति ऐसे होते हैं जो आलोचना में रत रहते हैं, उन्हें कोई विषय मिले न मिले वे विषय बना लिया करते हैं। आलोचना करने वाला किस वर्ग या पक्ष का है, उसके आधार पर ही जाना सकता है कि तथ्य क्या है? नेतृत्व को तथ्य तक पहुँचने का अवश्य प्रयत्न करना चाहिये। न तो उसे आलोचना में बने रहने का ही लक्ष्य रखना चाहिये और न ही आलोचना से परस्त ही होना चाहिये। वह स्वयं आलोचक न हो। उसे अपनी दृष्टि तथ्यों पर केन्द्रित रखनी चाहिये। कान पूरे खुले नहीं तो पूरे बन्द भी नहीं रखने चाहिये। यदि सामान्य वर्ग में वस्तुतः असंतोष व्याप्त हो रहा हो तो उस पर उसका ध्यान अवश्य जाना चाहिये।

बदनापुर  
13.03.2016  
फा. शु. 5  
रविवार

## अननुभूत सुख : अव्याबाध

**अ**व्याबाध सुख = जिस सुख में निरन्तरता बनी रहती है, जिसमें कोई व्यवधान नहीं आता। ऐसा सुख सिद्ध भगवन्तों का माना गया है। ऐसे सुख का अनुभव स्वल्प भी जिसने नहीं किया, वह सुख के प्रति कैसे अनुरक्त हो, यह एक प्रश्न उभरता है। वस्तुतः संसारी जीवों ने उस सुख का स्वाद चखा ही नहीं, जाना ही नहीं तो उसके भाव अव्याबाध सुख के लिए कैसे बनें? अतीन्द्रिय विषय की, अननुभूत विषय के प्रति भी किसी के द्वारा कहे जाने पर, बताये जाने पर जिज्ञासा जागृत हो जाती है। उदाहरण के तौर पर बही खातों में पूर्वजों द्वारा कुछ रकम जमीन में गड़े होने का संकेत हो तो उसे पाने के लिए व्यक्ति उद्यत होता है या नहीं? होता है। किसी फिल्म के विषय में उसके विज्ञापन को देखकर उसे देखने की चाह जगती है या नहीं? जगती है। वैसे ही तीर्थकर भगवन्तों द्वारा बताये गये अव्याबाध सुख के विषय में भी जीव की प्रवृत्ति होती है। जो तीर्थकर भगवन्तों पर विश्वास रखता है, वह निश्चित तौर पर अव्याबाध सुख पर भी विश्वास करता है। उसे पाने के तरीकों को भी जानने का प्रयत्न करता है।

वर्तमान में कहूँ या संसारी जीव के लिए कहूँ, पांच इन्द्रियों के विषयों में जब तक वह लीन रहता है, तब तक उसे अव्याबाध सुख का अनुभव नहीं हो सकता। साध्वी मृगावती भगवान महावीर में लीन हो गई, उस समय वह अन्य विषयों की तरफ से प्रतिमुख हो गई थी। वह थी व भगवान थे। वह भगवान की भगवत्ता का रसास्वादन कर रही थी। वह आनन्द अपूर्व था, अद्भुत था। वैसा आनन्द उसे पूर्व में प्राप्त नहीं हुआ था। अव्याबाध सुख की झलक ध्यान के क्षणों में व्यक्ति कभी पा सकता है। कदाचित पाए या न पाए पर तीर्थकरों की वाणी से तो वह उस पर श्रद्धा करता ही है। प्रयत्न करने पर वह उसे पा भी सकेगा। पर उसके लिए बाह्य रस, जो पोद्गलिक है, उससे उपरत होना होगा। जब तक उसमें मन रमा रहेगा तब तक अव्याबाध सुख का स्वाद मिलना कठिन है।

## अनुभूति का महासागर : आत्म मस्ती

करमाड  
14.03.2016  
फा. शु. 6  
सोमवार

नशा एक मस्ती है। व्यक्ति अपना सर्वनाश करके भी मस्त रह सकता है। यह नशे की मस्ती से जाना जा सकता है। यह मस्ती मूर्च्छा रूप है। मूर्च्छित-अचेतन में रहते हुए व्यक्ति को दुःख का वेदन नहीं होता पर वह दुःख से मुक्त नहीं है। मूर्च्छितावस्था की मस्ती कई प्रकार की है। शराब, भंग, गांजा, चरस आदि से उत्पन्न मस्ती तो मूर्च्छना की प्रतीक है ही। इससे भिन्न धन, बल, सत्तादि से उत्पन्न मस्ती भी नशे का प्रतीक है। धन का नशा भी व्यक्ति पर गहरा छाया रहता है। बल, रूप, ऐश्वर्यादि में मस्त रहने वालों की भी कमी नहीं है। ये सारी मस्तियां चैतन्य को धूमिल किंवा मूर्च्छित करने वाली हैं। इन सबसे भिन्न एक मस्ती और भी है, जो चैतन्य की जागृतावस्था में प्रकट होती है। उसमें मस्त बना साधक व्यक्ति अपने हाल में मस्त रहता है। दुनिया में क्या हो रहा है, उससे उसे कोई लेना देना नहीं होता। वह स्वयं में लीन रहता है। यह मस्ती मूर्च्छा नहीं, अपितु जागरण है। मूर्च्छा से उत्पन्न मस्ती यथार्थ में मस्ती नहीं है। वह बेहोशी है। चैतन्य की जागरण से उत्पन्न मस्ती में अन्तर नाद आन्दोलित हो व्यक्त होने लगता है—**‘एगो मे सासओ अप्पा, नाण दंसण संजुत्तो, और में तो रमता योगी राम मेरा क्या दुनिया से काम’**, अब हम अमर भये ना मरेंगे या कारण मिथ्यात दियो तज क्यों कर देह धरेंगे, हम तो अमर भये ना मरेंगे। वस्तुतः वह मस्ती आत्म रमण की मस्ती होती है। वह भक्ति की मस्ती होती है। उसके विषय में जानना हो तो मीरा से पूछो, मृगावती से पूछो कि उसे उस मस्ती से क्या मिला? उसे आत्मिक नशे की संज्ञा दे भी दें तो यह नशा, नाश का द्वार नहीं अपितु आत्म उद्धार का द्वार है। नशा शब्द वर्तमान में जिस रूप में प्रयुक्त होता है, उस दृष्टि से इस मस्ती को नशे की संज्ञा देना शायद ठीक नहीं होगा। पर हाँ, यह मस्ती आत्म-मस्ती है, बेहोशी वाली नहीं है। बेहोशी की मस्ती अनुभवहीन है, जबकि यह मस्ती अनुभूति का महासागर है।

मुकुन्दवाड़ी  
(आरंगाबाद)  
15.03.2016  
फा. शु. 7  
मंगलवार

## धर्म : तथ्य और कथ्य

सत्य एवं सदाचार के अभाव में की जाने वाली धर्माराधना-धर्मानुष्ठान वृक्ष के टहनी, पत्तों को पानी पिलाने रूप होगा।

अतिथि संविभाग श्रावकों के लिए बारहवाँ व्रत है। संत-अतिथि रूप होते हैं, क्योंकि वे बिना सूचना के आते हैं। उन्हें निमंत्रण दे बुलाया नहीं जाता और न वे कोई तारीख या वार निश्चित करके गोचरी जाते हैं। यानी वे पहले से ऐसी कोई सूचना नहीं देते कि अमुक दिनांक को गोचरी वहाँ जायेंगे और अमुक तारीख अमुक जगह। अतः वे अतिथि हैं। उनके लिए भोजनादि बनाया नहीं जाता। गृहस्थ ने अपने लिए जो बनाया है, उसमें संविभाग करना। अर्थात् आहार तैयार हो जाने के पश्चात् संतों के आगमन का इन्तजार करना। संत भिक्षार्थ पधारें तो अहो भाव से यथा योग्य आहारादि से प्रतिलाभित होना। अतिथि संविभाग से यह बात स्पष्ट होती है कि उनके लिए बनाए नहीं पर बनने पर यथावसर संविभाग करे।

तीर्थकर देवों ने श्रावक, साधु दोनों के लिए सिद्धान्त रूप धर्म एक ही प्रकार का कहा है। आचरण में श्रावक व साधु को अलग-अलग बताया। इससे ध्वनित होता है कि साधु हो या श्रावक, मंजिल दोनों की एक है। वहाँ तक पहुँचने के लिए साधनों की भिन्नता है। कोई धीरे चलने वाला होता है तो कोई तेज रफ्तार से। गति की भिन्नता सामर्थ्य आदि कारणों से होती है। इसलिए अगर धर्म एवं अणगार धर्म दो प्रकार आचरण की दृष्टि से बताये गये। श्रावक के लिए उसके सामर्थ्य के अनुसार उसके व्रतों में छूट दी गई है। मंजिल तक जाने के लिए तो उसे सामर्थ्य जगाना ही पड़ेगा। उसके बिना मोक्ष रूपी मंजिल प्राप्त होना संभव नहीं है।

जीवन पट बेरंग-बिना रंग के नहीं रहे। उसे धर्म रंग से रंग कर आबाद करें। धर्म से जिसने अपना जीवन पट रंग लिया, वह धन्य-धन्य हो गया। उसने मनुष्य जीवन को सार्थक और सफल बना लिया।

धर्म का सीधा सम्बन्ध आत्मा से है। बाह्य क्रियाएं वहाँ तक पहुँचने के रूप में प्रयुक्त होनी चाहिये। ए.सी. रूम की ठण्डक लेनी हो तो खिड़की एवं दरवाजे बन्द करने होंगे।

## तन-मन पीड़ित कब?

सिड़को  
(औरंगाबाद)  
16.03.2016  
फा. शु. 8  
बुधवार

**प्र**वचन- दिल की पवित्रता से जो वचन व्यक्त हो, वह प्रवचन है। तीर्थकर देवों के वचन, प्रवचन हैं। प्रशस्त भाव से निसृत वचन प्रवचन है। प्रवचन देते समय मन पूर्णतया पवित्र होना चाहिये। किसी के प्रति द्वेषादि का भाव नहीं रहना चाहिये। कोई अपने से शत्रुता रखने वाला व्यक्ति भी यदि प्रवचन में हो तो, उस समय उसके प्रति शत्रुता का भाव मन में होना ही नहीं चाहिये। प्रवचन के पूर्व मन को शान्त-प्रशान्त, सहज, सरल बना लेना चाहिये।

देह और मन पीड़ित तब होते हैं, जब व्यक्ति का उन्हीं में ध्यान लगा रहता है। आत्म-भावों में जिस समय वह रमण करता है, उस समय देह और मन के कष्ट उसे पीड़ित नहीं कर सकते।

किसी के द्वारा कहे जाने वाले शब्दों से स्वयं को नहीं तौलना चाहिये। अपने पर अपना विश्वास होना चाहिये। स्वयं को जितना व्यक्ति स्वयं पहचान सकता है, दूसरा नहीं पहचान सकता। लोग अपने नजरिये से ही मूल्यांकन करते हैं। उनके द्वारा किया गया मूल्यांकन परिपूर्ण हो जरूरी नहीं है। स्वर्ण और रत्न का मूल्य आंकते हुए भी व्यक्ति कई बार चूक जाता है, वैसी स्थिति में वह इनसान का पूर्ण मूल्यांकन कैसे कर सकता है?

प्रतिक्रिया का स्वाद अच्छा लगता है पर परिणाम सुन्दर नहीं आता। प्रतिक्रियात्मक जीव को संतुष्टि कभी नहीं होती, अपितु गर्व अवश्य जागृत हो जाता है। प्रतिक्रियात्मक व्यक्ति का प्रतिक्रिया के समय चेहरा देखो तो उस पर उत्कर्ष की छाया स्पष्टतः दृष्टिगत होती है।

भले ही उस समय वह हर्षित होता हो किन्तु वह प्रतिक्रिया उसके मन को पीड़ित करने वाली होती है। व्यक्ति को प्रतिक्रिया के बजाय सत्क्रिया का लक्ष्य रखना चाहिये। प्रतिक्रिया का अर्थ है - क्रिया के पश्चात् की जाने वाली क्रिया। सत्क्रिया क्रिया के पश्चात् नहीं होती, वह क्रिया रूप होती है।

सिड़को  
(औरंगाबाद)  
17.03.2016  
फा. शु. 9  
गुरुवार

## मन को पहले मांज लें

**सा**मायिक साधना शुद्ध रूप से सम्पन्न हो, उसके लिए द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की शुद्धि आवश्यक है। सामायिक में इच्छाकारण का पाठ बोलते समय मन अत्यन्त भावना शील हो जाना चाहिये ताकि प्राणी वर्ग के प्रति संवेदन शीलता का अनुभव किया जा सके। प्राणी जगत के प्रति संवेदन शीलता ही नष्ट हो जाय तो साधना में लोच आ ही कैसे पायेगा।

धर्म रूपी पेड़ की जड़ें सदाचार हैं एवं फल मोक्ष है। पेड़ खड़ा भर नहीं रहना चाहिये, वह हरा-भरा रहे एवं फले-फूले तभी रमणीय लगता है। धर्म वृक्ष भी हरा-भरा व फलता-फूलता ही सुन्दर लगेगा।

पानी पीने के लिए ग्लास या लोटा मांजा हुआ, साफ हुआ यूज-उपयोग में लिया जाता है। धर्म कार्य के पहले भी देखो कि मन रूपी लोटा-ग्लास मांजा हुआ है या नहीं। बर्तन यदि पूरा साफ किया हुआ नहीं हो तो उसमें डाला जाने वाला पदार्थ विकृत हो सकता है। उसी प्रकार बिना मांजे हुए मन से की गई साधना सुंदर कैसे होगी? इच्छाकारण-तस्स उत्तरी का पाठ मन को मांजने का बहुत सुन्दर साधन है, उपक्रम है।

तन मैला होता है तो साबुन आदि के प्रयोग से उसकी धुलाई कर ली जाती है। मन के मैल की भी धुलाई होनी चाहिये। मन का मैल ईर्ष्या, डाह, खिन्नता, चिड़चिड़ापन, घुटन, छल-कपट, दम्भ आदि है। इनसे मन अस्वस्थ हो जाता है। ये रोग दूर हो जाए तो मन चंगा-अरूज हो जायेगा। मन की स्वस्थता ही आत्म-शान्ति, समाधि एवं सुख है।

ध्यान रखें कीचड़ का कीड़ा कभी अच्छे स्थान की चाह नहीं कर सकता और न ही कीचड़ को छोड़ अन्यत्र जाना ही चाहेगा। वैसे ही भौतिक धन-वैभव में रमा मन उसी में लीन रहता है। वह उससे उपरत नहीं हो पाता। मन को कीचड़ से तभी निकाला जा सकता है, जब कीचड़ से अन्य स्थान की सुन्दरता-श्रेष्ठता को वह वस्तुतः जान सके।

विधि से किया गया कार्य आत्मतोष देता है। सुखद और सुन्दर होता है।



सिड़को  
18.03.2016  
फा. शु. 10  
शुक्रवार

## तुम क्या देख रहे हो?

मैं जो भी पाता हूँ वह प्रतिफल है। श्रम करने से पारिश्रमिक मिलता है। श्रम का जो मूल्य मिलता है, उसे ही पारिश्रमिक कहा जाता है। दूसरे शब्दों में श्रम ही पारिश्रमिक के रूप में साकार होता हुआ नजर आता है। एक सम्राट ने एक कारीगर से भवन बनवाया। उसने उसमें धांधली की। भवन देखने में अच्छा था पर मजबूती कम थी। सम्राट ने भवन को देखा और कहा मैं बहुत समय से तुम्हें पुरस्कृत करना चाहता था, आज मैं मन की मुराद पूरी कर रहा हूँ। इतना कहते हुए उस भवन के दस्तावेज अपने हस्ताक्षर के साथ उसे थमा दिये। कारीगर को काटो तो खून नहीं। वह सोचने लगा पहले मालूम होता तो मकान की मजबूती पर विशेष ध्यान देता। पर अब क्या हो, जब चिड़िया चुग जाए खेत। वह मन मसोस कर रहा गया। यह एक रूपक है। इससे ध्वनित होता है कि तुम जैसा बनाते हो वैसा ही तुम्हें प्राप्त होता है। व्यक्ति यदि अच्छा करता है तो उसका अच्छा लाभ पायेगा और बुरा करेगा तो बुरा। उसका कर्तृत्व ही व्यक्तित्व को निखार पाता है। जैसा बोया जाता है वैसा लूना जाता है। जैसा करता है जीव वैसा ही वह भरता है। उसका कार्य ही प्रतिफल के रूप में उभरता है। इसे स्पष्ट जान लेना चाहिये।

धर्म क्रियाओं के विषय में भी यही बात लागू होती है। जो जितने मन से, श्रद्धा व भक्ति से एवं उत्कृष्ट भाव से क्रिया-अनुष्ठान करेगा, उसे उसका प्रतिफल भी उतना ही उत्कृष्ट व श्रेष्ठ रूप से प्राप्त होगा। तीर्थंकर नाम का उपासना भी उसी का एक अंग है। इससे विपरीत भयंकर कर्मों का बन्ध भी व्यक्ति स्वयं की भावनाओं से ही करता है, जैसा कि तन्दुलमच्छ के लिए कथन आता है। अतः कोई भी कार्य करने से पहले विचार करो, तुम क्या चाहते हो? तुम उस कार्य में क्या अनुभव करते हो-देखते हो? मूर्तिकार पत्थर से मूर्ति बनाने के पूर्व ही उसमें मूर्ति को देख लेता है। पेपर देने वाला मिलने वाले प्राप्तियों का अनुमान लगा लेता है। वैसे ही किसी भी कार्य में देखो तुम्हें क्या दिखता है?

ब्लूबेल सोसायटी  
(औरंगाबाद)  
18.03.2016  
फा. शु. 10  
शुक्रवार

## परमात्मा का वास : मनायतन

प्रदर्शन से दर्शन आवृत होता है। प्रदर्शन से गर्व बढ़ता है। प्रदर्शन से यथार्थ गौण हो जाता है। प्रदर्शन से परमात्मा दूर हट जाते हैं। प्रदर्शन से परमार्थ छिप जाता है। दर्शन भीतर ले जाता है, प्रदर्शन बाहर। दर्शन परिणामदायी होता है, प्रदर्शन से परिणाम अनिवार्य नहीं है। दर्शन आत्माभिमुख होता है, प्रदर्शन इन्द्रिय-अभिमुख। दर्शन गम्भीर होता है, प्रदर्शन छिछला। दर्शन मन आयतन को पवित्र बनाता है, प्रदर्शन उसे मलिन-विकृत बनाता है।

मनायतन विकारों का ही स्थान नहीं है, वह परमात्मा का भी आवास है। स्वच्छता का प्रारम्भ मन से किया जाय। स्वच्छ मन देवों की रमण स्थली बन जाता है। देवत्व का अनुभव मन से ही संभव है। स्वच्छ मन पारदर्शी होता है। स्वच्छ मन, स्वस्थ तन का निर्माण करता है। स्वच्छ मन से साख बढ़ती है। स्वच्छ मन सुख-शान्ति एवं समाधि प्रदायक होता है। स्वच्छ मन से अज्ञान दूर होता है। स्वच्छ मन पाप विनाशक एवं प्रक्षालक होता है। स्वच्छ मन की पहचान है-जिसमें छल-कपट, दम्भ-ईर्ष्या, डाह आदि के साथ-साथ वैर विरोध के भाव न हों, ऐसा मन स्वच्छ मन की संज्ञा पाता है।

स्वच्छ मन सहज-सरल होता है। उसमें कहीं भी ग्रंथियाँ नहीं रहतीं। सरल मन स्वच्छता का प्रतीक है। मन की ऋजुभूत अवस्था से मन शुद्ध हो जाता है। शुद्ध मन में ही धर्म ठहर पाता है। मन साफ होगा, तब ही धर्म से प्राप्त होने वाले आनन्द का अनुभव किया जा सकता है।

मन की पवित्रता से आभा मण्डल की जो रचना होती है वह सुरक्षा कवच का रूप बन जाता है। यह कोई चमत्कार नहीं अपितु जीवन की सच्चाई है। मन जितना स्वच्छ-पवित्र होगा, सुरक्षा कवच भी उतना ही सशक्त एवं सघन होगा। मन से ही विपत्तियों को आने का मार्ग मिलता है एवं मन ही विपत्तियों को रोकता भी है। इसलिए मन पर यदि पूरा ध्यान रहता रहे तो जीवन की बाजी को जीत लेना बहुत आसान है। कहा भी जाता है-

“मन के हारे हार है, मन के जीते जीत”

## मैत्री नहीं दोष देखती

हड़को  
(औरंगाबाद)  
19.03.2016  
फा. शु. 11  
शनिवार

भगवान महावीर ने मैत्री का उपदेश दिया। उनका उपदेश पद है- 'मेतिं भुएसु कप्पए'। समस्त प्राणियों पर मैत्री भाव हो। यह बात बड़ी सहज लगती है लेकिन बात इतनी सहज नहीं है। मैत्री में एक ऐसा घटक होता है जो मैत्री को टिकाये रखने में समर्थ होता है। यदि उसे हटा दिया जाय तो मैत्री-प्रीत लम्बे समय तक टिक नहीं सकती। वह घटक है-अदोष दर्शन। मैत्री में दोषों को देखने की नीयत नहीं होती। यदि किसी मित्र में कोई दोष होता भी है तो अन्य मित्र उस दोष का परिहार कैसे हो, प्रयत्न करता है न कि वह उसके दोषों को देखने का ध्येय बनाता है। दोष दर्शन की नीयत पैदा होते ही मित्रता को खिसकते-दरकते देर नहीं लगेगी। मैत्री के उपदेश से भगवान ने एक महान उपकार सृष्टि के जीवों पर किया है, वह यह कि उसकी दोष दर्शन की नीयत न बने। वह दोष देखने वाला न हो। यह दोष यदि मनुष्य में से एक बार अलग कर दिया जाय तो मानवीय संस्कृति-सभ्यता में एक अद्भुत नजारा नजर आने लग जाय। मैं तो यहाँ तक मानता हूँ कि यदि भगवान-अरिहंत भी आज इस धरा पर होते तो दोष देखने वाले उनमें भी दोषों का कथन करने में नहीं चूकते। भगवान महावीर के युग में उनसे भी असूया रखने वालों की कमी नहीं थी। आज भी लोग भगवान को दोष देने से नहीं चूकते। उन्हें कहते हुए सुना जाता है, हे भगवान! तुमने मेरे साथ ऐसा क्यों किया? यह शिकायत क्यों है? प्रायः आदतन। व्यक्ति के दोष देखने की दृष्टि में यदि बदलाव आ जाय तो बहुत बड़ी बात होगी। उसके लिए भगवान का फार्मूला है, मैत्री भाव। जगत के समस्त जीवों के साथ वैसा भाव सध जाता तो दोष दर्शन का प्रवाह स्वतः थम सकता है। अन्यथा दोष दर्शन में मानव की कितनी शक्ति का हास हो रहा है, यह अनुभव किया जा सकता है। दोष दर्शन का प्रवाह रुके, मैत्री भाव के सम्बन्ध प्रगाढ़ बनें ताकि पूरा विश्व शान्ति का श्वास ले सके।

अहिंसा नगर  
20.03.2016  
फा. शु. 12  
रविवार

## मनुहार से न आए मस्ती

एक पौधे को देख रहा हूँ। उस पर अनेक फूल लगे हुए हैं। फूलों से भीनी-भीनी गंध उठ रही है। इतने में एक भ्रमर उधर आ गया। गुंजार करता हुआ फूल पर बैठा। पराग ले मस्त हो गया। वहाँ से उड़ता है, गुंजार करता हुआ अन्य फूल पर बैठा। इसी प्रकार वह फूलों पर बैठता रहा, उड़ता रहा। अपनी मस्त तान में गुंजार करता रहा। उसे देख सहज ही अनुचिन्तन स्फूर्त होता है कि यह भ्रमर कितना मस्त है। फूल पर बैठता है तो फूल की शोभा में श्री वृद्धि हो जाती है। फूल की श्री वृद्धि ही नहीं होती भंवरा भी अपने हाल में मस्त हो जाता है। उसके आनन्द का, मस्ती का अन्दाजा पाना कठिन है। साधु को भी भ्रमर की तरह भिक्षा चरी पर ही निर्भर होना चाहिये। उसी में उसे मस्ती आ सकती है। वह जब भिक्षार्थ गृहस्थ के घर में प्रविष्ट होगा तो उससे उस घर की श्री शोभा में भी वृद्धि होगी। भारतीय संस्कृति ने 'अतिथि देवो भव' कहा है। अतिथि देव होते हैं। देव तुल्य होते हैं। देव के आगमन से घर का दिव्य बन जाना स्वाभाविक है। अतिथि से एक तरफ गृहस्थ का घर पवित्र हो जाता है तो दूसरी ओर साधु गृहस्थ के निमित्त बने हुए भोजन में से थोड़ा-थोड़ा ग्रहण करता हुआ अपनी संयम यात्रा को बिना किसी व्यवधान के आगे बढ़ाने में समर्थ हो पाता है। साधु स्वयं श्रम करके भिक्षा लाता है। दोषों का परिहार करते हुए भिक्षा लेता है। इससे उसे अत्यन्त आनन्द का अनुभव होता है। उस समय उसे जो संयम की मस्ती चढ़ती है, वह अद्भुत होती है। उसके आनन्द, मस्ती को मापा जाना शक्य नहीं है। किन्तु यदि साधु थोड़ा भी मन कमजोर कर ले, आधाकर्मी आदि दोषों से दूषित आहार ग्रहण कर ले तो उसकी वह मस्ती बरकरार नहीं रह सकती। गृहस्थ का मन भी वैसा उत्फुल नहीं हो सकता। इसलिए कह सकते हैं-साधक तुम्हारी मस्ती किसी पर आधारित नहीं है। तू स्वयं ही उसका आयतन है। वह मस्ती पूर्ण रूप से तुम्हारे अधिगत है।

## बूढ़-बूढ़ से घट भरे

समर्थ नगर  
(औरंगाबाद)  
21.03.2016  
फा. शु. 13  
सोमवार

**अ**थाह जल राशि में से थोड़ा जल ग्रहण करके व्यक्ति प्यास बुझा लेता है। थोड़ा पानी प्यासे व्यक्ति की प्यास बुझा, समाधि देने वाला बन जाता है। इसी प्रकार अथाह ज्ञान राशि में से थोड़ा भी ज्ञान हो जाय, मैं कौन हूँ, इतना सा भी ज्ञान हो जाय तो उससे जीव समाधि को प्राप्त हो जाता है।

जैन कुल में जन्म पाया है तो आत्म-ज्ञान की प्राप्ति का पथ सुगम हो गया है। थोड़ा पुरुषार्थ अवश्य करना चाहिये। यदि ज्यादा समय न भी निकल सके तब भी कम से कम 15 मिनट का समय तो प्रतिदिन निकालना ही चाहिए, जिसमें अपनी खोज की जा सके। यदि 15 मिनट का समय भी नियमित निकाला गया तो एक वर्ष में 90 घण्टों का समय सुकृत में लग सकता है। पता नहीं कौन सा क्षण आत्म-अनुभूति का बन जाय।

जो शोध नहीं कर पाता है, वह माला-जाप परावर्तनादि रूप क्रियाएं भी कर सकता है पर कुछ न कुछ समय शोध में अवश्य लगाना चाहिये। तत्काल कुछ न भी मिले किन्तु दृष्टि शोधपरक बन जाय, यह भी बहुत महत्वपूर्ण है। एक बार दृष्टि शोध की दिशा पकड़ ले तो बाद में वह स्वयं आगे बढ़ सकती है। शोध दृष्टि खोजने में तत्पर रहती है। अतः दृष्टि को खोज की दिशा में अवश्य लगायें।

वैज्ञानिक युग में अनेक वैज्ञानिकों ने कुछ न कुछ खोजा है। वह खोज भौतिकी है किन्तु खोज है। खोज करने का तरीका तो समझ में आ ही गया। वैसे ही अध्यात्म की खोज का तरीका हाथ लग जाय तो एक न एक दिन आत्मा की खोज में सफल हुआ जा सकता है। यदि कदाचित आत्म-बोध न भी हो पाए, तब भी अनुभव की समृद्धि तो बढ़ेगी ही। अनुभव वैभव से तो व्यक्ति सम्पन्न होगा ही। होगा तो लाभ ही, हानि तो होनी नहीं है।

खोज अन्तर-दिल से हो। अन्तर दिल से जो कार्य किया जाता है, वह मनोयोग से सम्पन्न होता है। मनोयोग से किया गया कार्य सफलता दिलाने वाला बनता है। यदि धन कमा लिया तो मरते वक्त छोड़ना ही पड़ेगा। इसी प्रकार परिवार भी यदि बढ़ जाय तब भी परमार्थतः कुछ भी नहीं बढ़ा। पर हाँ, यदि अनुभव बढ़ेगा तो जीवन को आनन्द देने वाला होगा।

समर्थ नगर  
21.03.2016  
फा. शु. 13  
सोमवार

## इशारों इशारों में

**के**

केवलज्ञान-सर्वज्ञता प्राप्ति का होश भरने वाला निर्मल मति एवं श्रुत ज्ञान की आराधना हेतु तत्पर न हो, मति-श्रुत ज्ञान को भी शुद्ध, विशुद्ध रखने को तैयार न हो तो क्या वह केवलज्ञान का अधिकारी बन सकता है? मति-श्रुत ज्ञान को मलिन बनाते हैं- राग-द्वेष एवं कषाय। यदि राग-द्वेष, कषाय का त्याग करने की तैयारी न हो तो केवलज्ञान की प्राप्ति कैसे हो पायेगी। केवलज्ञान पाने के लिए राग-द्वेष, अज्ञान, कषाय सबको छोड़ना पड़ता है। इनके रहते केवलज्ञान प्रकट हो ही नहीं सकता। यद्यपि केवलज्ञान आत्म-अधिगत ही है। तदपि वह प्रकट नहीं है क्योंकि उस पर आवरण बना हुआ है। उस आवरण को हटाने का कार्य व्यक्ति को ही करना होता है। प्रबल पुरुषार्थ जगने पर ही वह आवरण हट पाता है। सूर्य के सामने आया हुआ सघन आवरण जैसे तेज हवा से बिखर जाता है, वैसे ही आत्मा के केवलज्ञान पर आये सघन आवरण को सदाचार की तेज हवा से हटाया जा सकता है।

केवलज्ञान को प्राप्त कराने में गुरु का सानिध्य अत्यन्त महत्व रखता है। गुरु की पर्युपासना साधक को केवलज्ञान के निकट ले जाती है। गुरु की सेवा का अर्थ उनके समीप बैठ जाना ही नहीं है। अपितु उनकी पर्युपासना का अर्थ है कि गुरु के इंगित-आकारों को समझने लगे। गुरु मुंह से प्रेरणा दे, कोई जरूरी नहीं है। वे इशारे-इशारे में ही गहन तत्व बोध दे देते हैं। उन इशारों को समझने की क्षमता उनकी पर्युपासना से ही संभव हो पाती है। इसलिए गुरु की सेवा-पर्युपासना का महत्व बताया गया है। सर्जन जब सर्जरी कर रहा होता है, उस समय जो नर्सज उसके कार्य में सहयोगी के रूप में रहती हैं, वे डाक्टर के हाथ आदि एकसन से ही जान लेती हैं कि डॉक्टर को कब, कौन सा औजार चाहिये। वैसे ही गुरु की उपासना से उनके इशारों को समझने में प्रवीण प्रज्ञ साधक सर्वज्ञता की दिशा में अग्रसर हो सकता है। आवृत अज्ञान कर्मों को धून कर वह लोकालोक प्रकाशक केवलमेकम ज्ञान को उपलब्ध हो जाता है।

## सुखी जीवन का स्रोत

महावीर भवन  
(औरंगाबाद)  
22.03.2016  
फा. शु. 14  
मंगलवार

**शा**स्त्रों के सिद्धान्तों का ज्ञान पालना एक बात है, जीवन जीने का ज्ञान पालना अलग बात है। कोरा ज्ञान, जीवन में सुख नहीं दे सकता। जीवन में जो ज्ञान रम जाए, वह जीवन को सुखी बना देता है। झाड़व यह जानता है कि चढ़ाई के समय कैसे गाड़ी को कंट्रोल करना एवं दाएं-बाएं मोड़ते समय क्या सावधानी रखना। यदि वह इन तथ्यों का विज्ञान न रखे तो गाड़ी का मंजिल तक पहुँचना संदिग्ध बना रहता है। वैसे ही जीवन व्यवहार का ज्ञान न हो तो व्यक्ति सुखी बन नहीं सकता। जैसे रोड पर चलते दाएं-बाएं मोड़ आते रहते हैं, वैसे ही सामुदायिक जीवन में अनेक उतार-चढ़ाव व मोड़ आते रहते हैं। वे न आएँ, यह संभव नहीं है। वे तो आयेंगे। उनमें स्वयं को कैसे व्यवस्थित रखना, इसका विज्ञान होना जरूरी है।

समुदाय में रहने वाले सभी सदस्यों की समझ एक जैसी नहीं हो सकती। सारे एक ही सांचे में ढले हुए नहीं होते। एक ही सांचे में ढाली गई चीजों में भी अन्तर आ जाता है तो व्यक्तियों में अन्तर न आए, यह संभव नहीं है। कई व्यक्ति किसी भी विषय को अत्यन्त शीघ्रता से समझ लेते हैं तो अन्य कई ऐसे भी होते हैं जिन्हें अनेक बार समझाने पर विषय समझ में आता है। इसलिए कोई सोचे कि यह एक बार में ही क्यों नहीं समझ लेता तो ऐसा सोचने मात्र से उसमें वह समझ आ ही जाए जरूरी नहीं है। अतः समुदाय में रहते हुए उक्त कारणों से उतार-चढ़ाव आना स्वाभाविक है। उन उतार-चढ़ाव की स्थितियों को पर्व सम कराने वाले होते हैं, जिससे जीवन में पुनः नई ऊर्जा का संचार होने लगता है। पर्व, गांठ को भी कहा जाता है। पर्व से जैसे बाँस मजबूत रहता है, वैसे ही पर्व से आत्मीय भाव सघन हो जाते हैं। सामुदायिक जीवन की समरसता के लिए पर्व एक सशक्त कड़ी है। पर्व की भावना के अनुरूप जीवन को समरसता से सराबोर करते हुए जीवन व्यवहार की अहमियत को समझते हुए सम्यक् प्रकार से जीवन जीने का प्रयत्न किया जाय।

महावीर भवन  
(औरंगाबाद)  
23.03.2016  
फा. शु. 15  
बुधवार

## मोह का मर्दन - सुख का सर्जन

**ए**क प्रश्न पैदा होता है कि मोह दुःख का कारण है। मोह के क्षय से दुःख नष्ट हो जाता है। ऐसा आगम वचन है। तो क्या जब तक मोह क्षय नहीं होगा तब तक संसार के जीव सुखी नहीं हो पायेंगे ? यदि मोह के रहते सुखी हो ही नहीं सकते तो सुख से जीने का सोचना ही व्यर्थ है। उत्तर- मोह दुःख का कारण है। उससे जीव दुःखी होता है किन्तु दुःख के वेदन में व्यक्ति अपनी समझ से अन्तर ला सकता है। ठण्ड के मौसम में ठण्ड समान रूप से पड़ती है पर ठण्ड का वेदन सबको समान रूप से नहीं होता। वृद्ध व बच्चों को ठण्ड ज्यादा लगती है। कमजोर शरीर वालों का ठण्डक अपेक्षाकृत अधिक लगती है। कई युवा व प्रौढ़ भी ठण्ड-ठण्ड करते रहते हैं। किन्तु कुछ लोग जब शरीर से मेहनत करने लगते हैं तो ठण्ड का उन्हें वैसा अहसास नहीं होता। उनसे पूछेंगे तो वे कहेंगे ठण्ड कहाँ है ? देखो, मुझे तो पसीना आ रहा है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि मोह के वेदन में भी अन्तर अवश्य रहता है। श्री मद्दुत्तराध्ययन सूत्र के दूसरे अध्याय में परिषहों के स्वरूप का दिग्दर्शन कराते हुए भगवान महावीर ने साधुओं को बहुत स्पष्ट कहा है कि परिषह-कठिनाई कभी भी तुम्हारे मन पर हावी न हो। कठिनाई आने पर मन सुदृढ़ रहता है तो कठिनाई का वेदन उसे परेशान नहीं कर सकती। मोह का उदय है जरूर किन्तु मन-वचन-काया की सुदृढ़ता से उसके पाँवर को विफल कर दिया जाता है। जैसे कामगार व्यक्ति मेहनत से सर्दों को विफल कर देता है।

गजसुकमाल मुनि, स्कन्दक मुनि आदि के चारित्र से यह भली भाँति स्पष्ट हो जाता है कि मारणान्तिक कष्ट आने पर भी वे उससे विचलित नहीं हुए। मोह के प्रभाव को उन्होंने क्षीण करने का ही प्रयत्न किया। इसी प्रकार श्रावकों में भी कामदेव-अहंनक आदि ने कठिनाइयाँ सामने आने पर भी उनको अपने पर हावी होने नहीं दिया। अतः मोह के रहते हुए भी मन-वचन-काय को सुदृढ़ रखते हुए उससे मुकाबला किया जा सकता है। किया जाता है और मोह के रहते हुए भी जीवन के सुखमय पक्ष का आनन्द उठा सकता है। आगम में जो मोह को दुःख का कारण कहा गया है उसे बहुलता से समझा जा सकता है।



## धर्म मंगल है

महावीर भवन  
(औरंगाबाद)  
24.03.2016  
चैत्र कृ. 1  
गुरुवार

धर्म को मंगल कहा गया है यथा “धम्मो मंगल...।” धर्म मंगल रूप है। मंगल की एक व्युत्पत्ति ऐसी भी की जाती है—मां पापं गालयति—इति मंगलम्। जो मेरे पाप को गलावे वह मंगल है। इससे ध्वनित होता है कि धर्म पाप को गलाता है—नष्ट करता है। जैसे आग से मोम पिघलता है, गलता है, ताप से बर्फ गलता है, वैसे ही धर्म से पाप गलता—नष्ट होता है। धर्म से पाप पिघल कर बह जाता है। मक्खन को ताप लगने से वह पिघलेगा ही, वैसे ही धर्म से पाप गलेगा ही। धर्म पाप को गलाता है, इससे एक प्रश्न खड़ा होता है कि जो लोग मान-सम्मान की चाह करते हैं वे पाप को गलाते हैं या पाप को बांधते हैं? मान-सम्मान की चाह धर्म है या पाप? मान-सम्मान पुण्य योग से प्राप्त होता है किन्तु मान-सम्मान की चाह पाप का उपार्जन कराने वाली होती है। इससे समझा जा सकता है कि मान-सम्मान की चाह धर्म नहीं है। क्योंकि उससे पाप गलता नहीं है अपितु पाप कर्म का उपार्जन होता है। जो पाप का संग्रह कराए, वह धर्म हो नहीं सकता। इसी प्रकार हिंसा, झूठ, चोरी आदि भी धर्म नहीं है। उनके माध्यम से धर्म नहीं हो सकता। आचार्य हेमचन्द्र ने भी कहा है “न धर्महेतोर्विहितापि हिंसा।” हिंसादि से भी जीव पाप कर्म का उपार्जन करता है। इसलिए वे धर्म नहीं हो सकते हैं। क्रोध-मान-माया-लोभ भी धर्म का रूप नहीं है। ये सभी पाप कर्म हैं। इनसे जीव भारी होता है, पाप का उपार्जन करता है। अतः धर्म नहीं है। धर्म की क्रियाएं करना एक बात है, धर्म होना दूसरी बात है। एक तरफ कोई मासखमण तप कर रहा है साथ ही क्रोध भी कर रहा है, झूठ भी बोल रहा है। वैसी स्थिति में वह धर्म के लाभ से लाभान्वित कैसे होगा? हस्ती स्नान की तरह एक तरफ कर्म को झाड़ने का उपाय करता है तो दूसरी तरफ कर्म बन्धन का कार्य करता है। अतः धर्म के स्वरूप को समझना चाहिये न कि जैसे-तैसे धर्म क्रियाएं करके मन को तृप्त कर ले कि मैंने धर्म कर लिया। यदि तप-संयम आदि का गर्व हो तो वह भी धर्म नहीं है। धर्म बहुत बारीक है, गहन है। सामान्यतया लोग धर्म क्रिया को तो महत्व देते हैं किन्तु भाव शुद्धि की तरफ ध्यान नहीं देते। इसी का दुष्परिणाम है कि धर्म प्रभावी नहीं बन पा रहा है।

वर्धमान रेजिडेंसी  
(औरंगाबाद)  
25.03.2016  
चैत्र कृ. 2  
शुक्रवार

## परम-पवित्र करता धर्म

धर्म के विषय में कहा गया है कि वह उत्कृष्ट है। उत्कृष्ट यानी श्रेष्ठ-उत्तम है। उत्कृष्टता के स्वरूप को समझ लेना जरूरी है। जन साधारण में जैसे वी.आई.पी. कोई कोई होता है। जो जन सामान्य से विरला होता है, उसे वी.आई.पी. कहते हैं। इसी प्रकार जो जन सामान्य से भिन्न हो वह उत्कृष्ट होता है। शरीर या धनादि की ऊँचाई को भी उत्कृष्ट कहा जाता है, किन्तु यहाँ विषय धर्म का है। धर्म ऊँचाई या धनादि से प्रतिबन्धित नहीं है। शरीर से ऊँचाई वाले भी अधर्म में रमते रहते हैं, जबकि शरीर से कम ऊँचाई वाले भी धर्म का स्पर्श कर लेते हैं। शरीर ऊँचा है या नीचा, खानदान ऊँचा है या इतर, इससे कोई फर्क नहीं पड़ता। धर्म का सम्बन्ध है मन की पवित्रता से। मन की उज्वलता से। मन जिसका जितना सत्य-ईमान से दिस होगा, वह उतना ही सरस और सरल होगा। मन जटिल बनता है छल-कपट-प्रपंच आदि से, जो अधर्म है। अधर्म से मन अपवित्र बन जाता है। धर्म से मन सदा पवित्र बना रहता है। रथनेमि का मन फिसल गया था लेकिन राजीमती की फटकार लगने पर भी उसके मन में प्रतित्वेष नहीं जगा। उन्होंने उसे सहज रूप से स्वीकार किया। यह पवित्र मन का ही प्रतीक है। महासती मृगावती को महासती श्री चन्दनबाला ने उपालम्भ दिया, उससे उनके मन में प्रतिरोध नहीं जगा, अपितु उन्होंने उस अनुशासन को भी सश्रद्ध स्वीकार किया। पवित्र मन की एक पहचान यह भी है कि वह किसी भी बात-शिक्षा को उलटा नहीं लेता। वह उससे स्वयं को अनुशासित ही करने का प्रयत्न करता है। ऐसी पवित्रता बिना धर्म के आना कठिन है। धर्म को उत्कृष्ट कहने का तात्पर्य यह भी है कि उसकी आराधना हो जाने से संसार का परिभ्रमण समाप्त हो जाता है। धर्म संवर रूप होता है। व्यक्ति स्वयं को सर्व रूप से संवृत कर ले तो वही उसकी उत्कृष्टता है। ऐसे उत्कृष्ट धर्म से आत्मा परम पवित्र बन जाती है।

## धर्म-अहिंसा आनन्ददायी

वर्धमान रेजिडेंसी  
(औरंगाबाद)  
26.03.2016  
चैत्र कृ. 3  
शनिवार

धर्म की अनेक व्याख्याएं, भेद आगमों एवं आगमेत्तर ग्रंथों में प्राप्त हैं। वस्तु के स्वभाव को भी धर्म कहा गया है तो श्रुत एवं चारित्र को भी धर्म कहा है। श्रीमद् स्थानांग सूत्र में नगर गाँवादि के कर्तव्यपालन के रूप में धर्म को दस प्रकार से व्याख्यायित किया है। यतिधर्म के रूप में क्षमादि को धर्म कहा है। श्रीमद्दशवैकालिक में अहिंसा-संयम-तप को धर्म कहा है। इतर ग्रंथों में अहिंसा के साथ कहीं-कहीं सत्य को भी धर्म कहा है। प्रश्न होता है वस्तुतः धर्म क्या है? यदि एक पंक्ति में इसका उत्तर दें तो वह होगा-अस्तित्व बोध धर्म है। अस्तित्व-बोध के बिना धर्म अनुभव में नहीं आ पायेगा। या यों कहें कि धर्म का प्रवाह हम अपने में अनुभव नहीं कर पायेंगे। अस्तित्व बोध से धर्म जीवन में व्यक्त होने लगता है। उसके होने पर जीवन की रंगत ही बदल जाती है। एक समय था जब उसे जीवन की चाह रहती थी। जैसा कि संसार के प्रायः प्राणियों को होती है। मृत्यु से उसे भय लगा रहता था, लेकिन जबसे धर्म में आता है जीवन और मरण एकरूप बन जाता है। न जीवन की आकांक्षा रहती है और न मृत्यु का भय ही। वह जानता है कि वस्तुतः मरण कुछ होता नहीं है। वह तो सदा से है व सदैव रहने वाला है। उसका अभाव कभी नहीं होगा। मरण, शरीर का होता है। शरीर को जीव धारण किये हुए होने से कथन जीव के मरण का हो जाता है।

मुझे कभी-कभी लगता है जैसे बाहर खड़ा व्यक्ति राज-भवन को देखता है, वैसे ही अधिकांश लोग अहिंसा-सत्य-धर्म आदि को बाहर से देखकर व्याख्या करते रहते हैं। ए.सी. रूम ठण्डा होता है। यह कथन अनुवर्तन हो सकता है। लेकिन जो उस रूम के भीतर गया है, जिसने उसे बारीकी से समझने का प्रयत्न किया है, उसके द्वारा किया गया विश्लेषण कुछ अन्य ही होगा। उसका कारण है उसने उसका अनुभव किया है। हम स्वयं को जान लें, अपने अस्तित्व को जान लें, वही जाना हुआ सच्चा है। वही धर्म है। उसे चाहे जिस नाम से कह दें। अहिंसा भी वही है एवं सत्य भी है। क्षमा भी वही है तो श्रुत और चारित्र भी वही है। धर्म का अर्थ है स्वयं को जानो।

वर्धमान रेजिडेंसी  
(औरंगाबाद)  
27.03.2018  
चै.कृ.4 रविवार

## मज्झत्थो निजरा पेही

माध्यस्थ भाव निर्जरा का हेतु माना गया है। राग-द्वेष आत्मा में पैदा होने वाले भाव हैं। इन्हीं से कर्म बन्ध होता रहता है। इसलिए इन्हें भावकर्म या कर्म के बीज रूप में स्वीकार किया गया है। बीज को खाद-पानी मिलने से फसल पैदा होती है। राग-द्वेष रूपी कर्म बीज को जैसे-जैसे भावना रूपी खाद-पानी का सिंचन मिलता रहता है, उससे कर्मों का फल जीव को भोगना पड़ता है। संयम, माध्यस्थ भाव है। संयम को माध्यस्थ भाव कहना ज्यादा उचित होगा। संयमी, निर्जरा-अभिमुख होता है। उसका लक्ष्य निज कर्म-निर्जरा का होता है। उसकी चर्या का मुख्य हेतु कर्म निर्जरा है। कर्मों की निर्जरा राग-द्वेष से हो नहीं सकती क्योंकि ये दोनों कर्म बन्ध के हेतु हैं। कर्म बन्ध के हेतु से कर्म निर्जरा संभव नहीं है। यदि इन्हीं से कर्मों की निर्जरा होने लगे तो संकर दोष संभावित है। अतः स्पष्ट है ये कर्म बन्धक हैं न कि निर्जरा के हेतु। निर्जरा का हेतु इनसे भिन्न होना जरूरी है। इनसे भिन्न है माध्यस्थ भाव। संयम का दूसरा नाम है-अकिंचनत्व अर्थात् अपना कुछ भी नहीं। साधु के पास अपना कहने को कुछ भी नहीं होता। जहां देह अपनी नहीं, वहां न अपना कोय। साधुता की निष्पत्ति में जो नजर आयेगा, वह होगा अकिंचनता का भाव। जब मेरा कुछ है ही नहीं तो उसके प्रति मुग्ध दृष्टि व्यर्थ है। यदि पर पदार्थ पर मुग्धता का भाव रखे तो यह अज्ञान ही होगा। संयम, ज्ञान से प्रतिफलित होता है। वह जानता है कि पुद्गल न कभी उसके हुए हैं न होंगे। उनके प्रति न मुग्ध भाव होना चाहिये, न प्रति द्वेष के भाव। इसी प्रकार जीव द्रव्य पर तटस्थ-माध्यस्थ भाव होना चाहिये। इसी में संयम के फूल खिलते हैं। पोशाक-वस्त्र, संयम नहीं है। वह तो मुख्य रूप से लोक प्रयोजन है। आत्म-प्रयोजन में वस्त्रों की उपादेयता नहीं है। वहां माध्यस्थ भाव ही मुख्य है। श्रीमदाचारांग सूत्र में कहा है- मज्झत्थो निजरा पेही। जो मध्य में स्थित होता है वह निर्जरा को देखता है। संयमी मध्यम में स्थित है। दूसरी दृष्टि से भी देखें तो वह मध्य में है। वह संसार से कूच कर गया होता है। मोह स्थान का उसने त्याग कर दिया है पर अभी भी निर्वाण शेष है, अतः मध्य में है। मोह स्थान कर्मायतन है। मोक्ष स्थान कर्म क्षय रूप है। संयम कर्म-निर्जरा के अभिमुख है, अर्थात् मध्य में है। अनुकूल-प्रतिकूल स्थितियों में एक भाव होना माध्यस्थ भाव है। निंदा, प्रशंसा, मानापमान में सम रहना माध्यस्थ है। यह संयम का भाव है।

वर्धमान रेजीडेंसी  
28.03.2016  
चै.कृ.5  
सोमवार

## जो आकार प्रकट करे

**श्री**मद् दशवैकालिक सूत्र की प्रथम गाथा में अहिंसा-संयम व तप रूप धर्म को उत्कृष्ट कहा है। तप का अर्थ उपवास आदि रूप तपस्या है या इसका अन्य भी कोई अर्थ होता है? तप का अर्थ बड़ा गहन है। उपवास आदि रूप तपस्या भी तप में ग्रहीत है पर वही तप है, ऐसी बात नहीं है। तप के अर्थ का विचार करता हूँ तो मुझे ऐसा लगता है कि जो आकार प्रकट करे वह तप है अथवा जिससे आकार प्रकट हो वह तप है। इसे थोड़ा स्पष्ट कर लेना उचित है। एक मूर्तिकार ने एक पत्थर देखा। उसने उसको गौर से देखा। उसे उसमें प्रतिमा दिखने लगी। उसने उसे तोड़ने-तराशने का काम चालू किया। जो प्रतिमा के मूल रूप को छिपाये हुए था उस सारे मटेरियल को उसने छील-छांग कर अलग कर दिया। उसके अलग होते ही एक भव्य प्रतिमा का आकार प्रकट हो गया। जैसे मूर्तिकार के माध्यम से वह आकार प्रकट हुआ, वैसे ही तप वह है, जिससे हमारी आत्मा का आकार प्रकट हो जाय। दूसरे शब्दों में कहूँ तो जिससे आत्मा का आकार प्रकट हो उसे ही तप कहना चाहिये। जो तपस्या इस लोक, पर लोक अथवा यश-कीर्ति के लिए की जाय वह वस्तुतः तप नहीं है।

एक बात और स्पष्ट हो जाना उचित है कि मूर्तिकार पत्थर से मूर्ति का आकार प्रकट करता है। वह आकार देता नहीं। पत्थर में मूर्ति का आकार था। उसे उसने प्रकट कर दिया। उसी प्रकार संसारी आत्मा में सिद्धत्व रूप आकार रहा हुआ होता है, तप उसे प्रकट कर देता है। जो हो नहीं, उसे व्यक्त नहीं किया जा सकता। उसे बनाया नहीं जा सकता। जो है तो सही पर दबा हुआ है, अटका हुआ है, उसे व्यक्त किया जा सकता है। तप अभाव को सद्भाव में नहीं बदलता बल्कि सद्भाव जो ओझल हुआ रहता है उसे व्यक्त कर देता है। जैसे सधे हुए तीरंदाज का तीर निशाने पर ही लगता है, वैसे ही सधे हुए साधक का तप निशाने पर ही लगा करता है। वह आकार को प्रकट करने में ही प्रयुक्त होता है। इसलिए उसकी जो भी क्रिया होती है उसे सकाम निर्जरा का रूप कहा जाता है। सकाम यानी जो लक्ष्य को सिद्ध कराने वाला है। अतः जो आत्म-तत्त्व से अतिरिक्त को दूर कर अपना आकार प्रकट करा दे उसे ही तप समझना चाहिये।

वेदान्त नगर  
(औरंगाबाद)  
29.03.2016  
चै. कृ. 5/6,  
मंगलवार

## परमार्थ का पवित्र पथ : धर्म

**धर्म** से क्या लाभ होता है? धर्म क्यों किया जाना चाहिये? ऐसे कई प्रश्न उठा करते हैं। एक बात तो यह समझ लेनी चाहिये कि धर्म किया नहीं जाता, धर्म होता है। धर्म आत्मा में पहले से मौजूद है। श्रुत धर्म और चारित्र धर्म, धर्म के व्यवहारिक रूप हैं। उसका उद्देश्य भी भीतर के धर्म को जागृत करना है। भीतर से धर्म जागरण हो जाने से जीवन परमार्थ पथ का राही बन जाता है। जो स्वार्थ त्याग की कठिन तपस्या हर कोई नहीं कर पाता, वह तपस्या उससे सहज संभव हो जाती है। धर्म, स्वार्थ का त्याग करता हुआ परमार्थ की ओर ले जाता है। वह कहता है क्यों इस स्वार्थ की गलियों में घुसे हुए हो? निकलो इनसे। परमार्थ के पवित्र पथ को स्वीकार करो। वहां जो अध्यात्म का आँकसीजन मिलेगा, उससे जीवन में बहार आ जायेगी। चेतना अपूर्व रूप से आंदोलित होगी। उससे ऐसी तरंगें तरंगित होंगी जिससे जीवन बागे बहार बन जायेगा।

परमार्थ क्या है? यह भी एक प्रश्न हो सकता है। परम+अर्थ = परमार्थ। यानी परम प्रयोजन रूप जो हो, वह परमार्थ है। रोटी, कपड़ा, घर जन-जीवन के सामान्य प्रयोजन हैं। उससे बढ़कर अध्ययन-अध्यापन, धन कमाना, विवाह-शादी आदि भी प्रयोजन हैं किन्तु ये प्रयोजन भी परम रूप नहीं हैं। आत्मार्थ जो किया जाय वह परम प्रयोजन होता है। धर्म, आत्मार्थ दिशा में ले जाता है। वह आत्म-परिणति की भव्य अनुभूतियों से जीव को सराबोर कर देता है। कुछ लोग पक्कर, नाटक, ड्रामा आदि देख कर मुग्ध हो जाया करते हैं। पर वह केवल मनोरंजन रूप होता है। आत्म-परिणति में जो अनुभव होता है, वह अलौकिक होता है। उसका कथन करना दुष्कर है। सम्यक्तव के चार श्रद्धा में परमार्थ का परिचय करना सबसे पहला श्रद्धान है। परमार्थ का परिचय करेगा तब ही वह उसे पाने के लिए तत्पर बन पायेगा। यदि परमार्थ का स्वरूप ही न जाने तो उसे पाने का कोई प्रयत्न करेगा भी तो कैसे करेगा? यानी नहीं कर पायेगा। पर धर्म, जीवन में जागृत होते ही परमार्थ के दर्शन करा देता है। उसका परिचय भी करा देता है एवं उसे पाने के लिए प्रोत्साहित भी कर देता है। अतः धर्म क्यों करना चाहिये व उससे क्या लाभ है यह उक्त कथन से स्पष्ट हो जाता है। परमार्थ को पाना ही सच्चा लाभ है।



## मेरा सिद्धत्व मुझ में कहाँ?

बजाज नगर  
(पंडपुर)  
30.03.2016  
चै.कृ.6 बुधवार

एक प्रश्न पूछें? क्या तुम्हें दूध में घी दिखता है? दूध में दही को देख पाते हो? दूध में क्या छाछ नजर आती है? उत्तर होगा – दूध में न तो घी दिखता है और न छाछ या दही ही नजर आते हैं। उत्तर एक दम ठीक है। दूसरा प्रश्न, क्या दूध में से घी नहीं निकाला जाता है? क्या दूध से दही और दही से छाछ नहीं बन जाती? उत्तर होगा – बन जाती है। पुनः प्रश्न खड़ा होता है, यदि दूध में से घी निकलता है, दही व छाछ बनते हैं तो वे उसमें थे या नहीं? निश्चित रूप से उक्त घी आदि उसमें थे। थे तभी निकले, अन्यथा कैसे निकलते। उक्त कथन एकदम यथार्थ है। दार्शनिक जगत इस विषय को स्वीकार करता है। यह तथ्य भी है कि अभाव सद्भाव में नहीं बदलता और न सद्भाव का अभाव ही होता है। हमारी आँखों से ओझल हो जाने मात्र से पदार्थ सद्भाव से अभाव में नहीं बदल जाता। सद्भूत पदार्थ का सदा सद्भाव रहता है। उसका कभी अभाव रूप में बदलाव नहीं होता।

दूध में भी घी का सद्भाव है। वह किसी की नजर में आए या न आए, लेकिन जो जानता है वह दूध से घी निकाल ही लेता है। जैसे दूध में घी होता है, वैसे ही संसारी आत्मा में सिद्धत्व होता है। दूध में से घी निकालने वाले ही निकाल पाते हैं, वैसे ही सिद्धत्व को प्रकट करने वाले ही कर पाते हैं। दूध को हम संसारी आत्मा के रूप में देख सकते हैं। दही को महात्मा-संयम के रूप में, छाछ को कर्मों के रूप में, मक्खन को अरिहंत के रूप में एवं सिद्ध को घी के रूप में देख सकते हैं। संसारी जीव को सिद्धत्व प्रकट करने के लिए दही के समान महात्मा-संयमी बनना होता है। संयम से कर्मों का निजरण करते हुए अर्हता-अरिहंत बनना व समग्र कर्मों को तपाकर-जलाकर सिद्धत्व प्रकट कर लेना एक प्रक्रियागत तथ्य है। इसे समझकर अपने अन्तर में रहे हुए सिद्धत्व को प्रकट करने के लिए आज प्रयत्न चालू कर देना चाहिये। उसके लिए सबसे पहले यह श्रद्धान-आस्था करना जरूरी है कि मेरे भीतर दूध में घी की तरह सिद्धत्व रहा हुआ है।

बजाज नगर  
(पंडपुर)  
31.03.2016  
चै. 7, गुरुवार

## किसकी शोभा क्या?

हाथ की शोभा दान है। कुल वधू की शोभा शील है। स्त्री की शोभा पति व्रत्य है। रात की शोभा चन्द्र है। दिन की शोभा सूर्य है। घर की शोभा गृहिणी है। दूसरे शब्दों में घर की शोभा अतिथि है। व्यापार की शोभा नैतिकता है। धर्म की शोभा सत्य है। न्याय की शोभा निष्पक्षता है। नदी की शोभा तट है। धर्म संघ की शोभा मर्यादा-अनुशासन है। आँख की शोभा लाज है। परिवार की शोभा विश्वास है। गुरु की शोभा ज्ञान है। शिष्य की शोभा सुनना है। हृदय की शोभा अनुकम्पा है। बुद्धि की शोभा तर्क है। तर्क की शोभा श्रद्धान है। पांव की शोभा सदाचरण है। कान की शोभा सद्वचन श्रवण। श्रावक की शोभा श्रद्धा है। साधु की शोभा मर्यादा पालन। जीवन की शोभा ईमान है। मस्तिष्क की शोभा प्रशासनिक क्षमता है। शरीर की शोभा त्याग है। गांव की शोभा उद्यान है। नगर की शोभा व्यापार है। सेना की शोभा शक्ति है। राजा की शोभा उदारता है। मकान की शोभा मजबूती है। मोती की शोभा आब है। फूल की शोभा सुगन्ध है। फल की शोभा रस है। पेड़ की शोभा पक्षी है। पक्षी की शोभा पंख है। दाता की शोभा आँख नीची होना है। शासक की शोभा अल्पभाषिता है। पुरुष की शोभा पुरुषार्थ है। वीर की शोभा क्षमा है। सेठ की शोभा निरभिमानता है। भिक्षु की शोभा शुद्ध भिक्षा पाना। मुनि की शोभा ज्ञान। उपाध्याय की शोभा शिष्य सम्पदा। श्रमण की शोभा समभाव है। संयम की शोभा वैराग्य है। ध्यान की शोभा एकाग्रता है। उपासना की शोभा मनवचकाया का एक होना है। मन्दिर की शोभा मूरत है। स्थानक की शोभा धर्मारार्थन है। पुण्य की शोभा पवित्रता है। माँ की शोभा वात्सल्य है। हाथी की शोभा उसके दांत हैं। सिंह की शोभा स्वातंत्र्य है। वन की शोभा सघन वृक्ष है। वन की शोभा नीरवता है। स्वर्ण की शोभा सुहागा है। बारात की शोभा दुल्हा है। वक्ता की शोभा सत्य सापेक्ष उपदेश। वक्ता की शोभा वचन शुद्धि। श्रोता की शोभा तन्मयता है। भिक्षुक की शोभा संतोष है। विनेय की शोभा इंगिताकार से सम्पन्न होना है। आगम की शोभा वैराग्योत्पादकता है। प्रवचन की शोभा यथार्थता का बोध कराना है। उपवास की शोभा कषाय शमन है। यति की शोभा जितेन्द्रियता है। यज्ञ की शोभा अग्नि है। देवों की शोभा इन्द्र है। अणगार की शोभा निस्पृहता है। मित्र की शोभा दोष नहीं देखना है। व्रती की शोभा अमायी होना है।



## एप्रिल-फूल-फूल सम खिलो

50 ग्रीम  
(ओरंगाबाद)  
01.04.2016  
चै.कृ.8 शुक्रवार

**ल**क्ष्य को अलक्षित नहीं किया जाय। गति धीमी हो तो भी लक्ष्यानुगत ही होनी चाहिये। गति इतनी तेज भी न हो जिसे कंट्रोल करना कठिन हो जाय या वह हमारे वश में ही न रहे। गति की तीव्रता उतनी ही होनी चाहिये, जिस पर हमारा अधिकार बना रहे। गति लक्ष्य से विपरीत न हो इसका पूरा ध्यान रखा जाना चाहिये। लक्ष्य विपरीत दो कदम भी उचित नहीं है। मार्ग चूक जाना और मार्ग को चुका देना दोनों में अन्तर है। मार्ग यदि चूक जाओ तो सत्वर मार्ग पर आने का प्रयत्न किया जाना चाहिये। लक्ष्यानुगत गति में खतरा नहीं होता। भले देर से ही सही पर मंजिल निश्चित मिलेगी। लक्ष्य विस्मृत हो जाने पर समस्या ही समस्या है।

फर्स्ट एप्रिल किसी को धोखा देने के लिए नहीं अपितु हम किसी से धोखा खा नहीं जाय इसके लिए सजग रहने की आवश्यकता है। जब हम किसी से धोखा खाना नहीं चाहते तो दूसरों को धोखा देना कैसे उचित कहा जा सकता है?

फर्स्ट एप्रिल को लोग सावधान रहते हैं कि कहीं कोई उन्हें बेवकूफ न बना दे। यह सावधानी यदि सदा के लिए बन जाय तो दुनिया बेवकूफ बना सके न बना सके पर इतना अवश्य होगा कि हम बेवकूफ बन नहीं पायेंगे। सावधान रहने वालों से बेवकूफी सदा दूर रहती है। जैसे प्रकाश से अंधेरा।

फर्स्ट एप्रिल से एक संदेश और भी मिलता है। लोग किसी से विनोद करके कह देते हैं एप्रिल फूल। फूल सदा खिला रहता है। फर्स्ट एप्रिल कहती है, कोई तुम्हारे साथ कैसा भी व्यवहार करे सदा खिले रहो। कभी कुम्हलाना नहीं। एप्रिल का प्रथम दिन तुम्हारे भीतर खुशियां भरने के लिए आता है न कि गमगीन बनाने के लिए। यदि अन्य दिनों में कहीं गमगीनता ने आ घेरा हो तो आज के दिन इसे दूर कर दो। स्वयं को खुशियों से भर लो।

झाल्टा फांटा  
से पहले  
2.04.2016  
चै.कृ.9, शनिवार

## सच्चाई से भय दूर भागे

**स**च्चाई स्वीकार करने से भय दूर हो जाता है। भय का मूल कारण असत्य है। असत्य को छिपाने के लिए स्थान की जरूरत रहती है। वह छिपता है पर भय बना रहता है कि कहीं कोई देख न ले। बस यहीं से भय प्रारम्भ हो जाता है। व्यक्ति जितना छिपने का, छिपाने का प्रयत्न करता है, उतना ही भय उसे संत्रास देता रहता है। प्रश्न होता है- सच्चाई या झूठ इससे फर्क क्या पड़ेगा? उत्तर- पुद्गलों का जितना प्रभाव नहीं पड़ता उतना प्रभाव विचारों का, भावनाओं का पड़ता है। दूध पीने से शरीर में रासायनिक प्रक्रिया होती है। वह शरीर में जा काम करना प्रारम्भ करता है। लेकिन दूध पीने वाले सभी लोगों की रासायनिक प्रक्रिया समान नहीं होती। शरीर की प्रकृति भी उसमें एक कारण है व दूसरा मनोभावना भी कारण है। मनोभावना को मैं मुख्य कारण मानता हूँ। दूध पीते समय भावना जैसी होती है, उसका परिणामन-रासायनिक प्रक्रिया प्रायः वैसी होती है।

जीवन निर्माण में भी भावनाओं का प्रभाव महत्वपूर्ण तरीके से पड़ता है। माता जिस भावना से लालन-पालन करती है, वे संस्कार उसके बच्चे के जीवन में गहरे रहा करते हैं। एक व्यक्ति यदि निरन्तर नकारात्मक सोचता रहता है तो वह जीवन में कोई भी महत्वपूर्ण कार्य सम्पन्न करने में समर्थ नहीं हो सकता। ठीक उससे विपरीत, सकारात्मक सोच से आदमी कहीं से कहीं तक पहुंच जाता है। इसी प्रकार सच्चाई का प्रभाव जीवन पर गहरा पड़ा करता है। सच्चाई को स्वीकारने वाला आत्म-विश्वासी हुआ करता है। उसके पास भौतिक रिद्धि-सिद्धि विपुल न भी हो तो भी वह जितना संतुष्ट होता है, उतना असत्य में जीने वाला भरपूर वैभव के होते हुए भी शांति से जी नहीं सकता।

भय के लिए जैसे झूठ एक कारण है, वैसे ही भय के अन्य कारण भी हैं। स्वार्थ, अहंकार, छल भी भय के उत्पादक हैं। भय का एक कारण उलझी हुई मानसिकता भी है। उलझी हुई मानसिकता से व्यक्ति सोच-सोच कर मानसिकता को उलझाता रहता है। वह जितना उससे बाहर होना चाहता है, उतना ही उसमें फंसता जाता है। पर हां, यह कहा जा सकता है कि व्यक्ति यदि सच्चाई स्वीकार कर ले तो भय उससे बहुत दूर भाग सकता है।

## सफलता के तीन सूत्र

पिपल चिट्टेगांव  
3.4.2016  
चै.कृ. 10/11  
रविवार

**सा**हस से सफलता मिलती है, लेकिन उसके प्रति आश्वस्त होना जरूरी है। कई बार व्यक्ति साहस से तो सराबोर होता है, किसी कार्य को करने में वह साहस तो दिखाता है, पर मन से आश्वस्त नहीं हो पाता। मन, शंकाओं से घिरा रहता है। ऐसी स्थिति में सफलता संदिग्ध हो जाती है। मिल भी सकती है, न भी मिले। यदि मैं इसे इस रूप में कहूँ कि हमारी आश्वस्ता ही कार्य की सिद्धि दिलाने वाली होती है तो यह कहना शायद अतिरंजित नहीं होगा। भरोसा डगमगाये नहीं। भरोसा सौ प्रतिशत ही नहीं 125 प्रतिशत होना चाहिये। इंग्लिश में 'ऑवर कॉन्फिडेंस' कहा गया है। अतिरिक्त, एक्स्ट्रा विश्वास। इतना विश्वास कि उसमें कहीं भी कोई भी किसी प्रकार शंका हो ही नहीं। जिधर से देखो, यानी जिस कोण से भी देखा जाय उसके प्रति गहरे विश्वास की ही झलक मिले। अन्य कुछ नज़र ही न आए।

हम में से बहुत लोग ऐसे होंगे जो सफलता की चाह तो रखते हैं पर उसके लिए राह कौन सी है उस ओर ध्यान कम देते हैं। साहस सफलता का एक घटक है। आत्म-विश्वास उसका दूसरा घटक है। तीसरा घटक है अपना सामर्थ्य। यदि सामर्थ्य से बढ़कर सोचा जाता है तो कई बार वह शेखचिल्ली का रूप बन जाता है। शेखचिल्ली की कल्पना के छोड़े तो बहुत दौड़ते हैं किन्तु क्रियान्वयन की दिशा शून्य होती है। ऐसी कल्पनाएं सफल नहीं हुआ करती। सफलता के लिए यह भी जरूरी है कि अपना सामर्थ्य पूर्ण रूपेण झोंक देना चाहिये। थोड़ी भी उसमें कटौती नहीं होनी चाहिये। यदि इस त्रिसूत्री फार्मूले के प्रयोग पर भी सफलता नहीं मिले तो अन्तरावलोकन अवश्य करना चाहिये कि वहां क्या गड़बड़ी हुई। जहां जो गड़बड़ी हुई हो उसे सुधारने की दिशा में तत्परता रखी जानी चाहिये अन्यथा धीरे-धीरे साहस मंद पड़ सकता है। आत्म विश्वास डगमगा सकता है। सामर्थ्य संकीर्ण हो सकता है और हो सकता है हमें सफलता के श्रेय से वंचित रहना पड़ जाए। ऐसा न हो, इसके लिए जरूरी है कि समय-समय पर हम अन्तरावलोकन करते

## किं कर्तव्यम्

रजापुर  
4.4.2016  
चै.कृ. 12  
सोमवार

**अ**पना पेट तो पशु भी भरता है, पक्षी भी भरता है। मनुष्य यदि अपनी उदर पूर्ति करे या अपने परिवार के उदर पूर्ति के लिए प्रयत्नशील बने अथवा अपनी मान्यता के साधु-साधियों की सार सम्हाल करे, उनकी विहारादि संदर्भ में चिन्तन-मनन करे तो इसमें क्या विशेषता है? कुछ व्यक्ति ऐसे भी देखे जाते हैं जो बिना भेद भाव के चाहे दिगम्बर हो, श्वेताम्बर हो, स्थानकवासी या अन्य कोई भी हो सभी के विहारचर्या में सेवा देना-उनके ठहरने की व्यवस्था देखना, गोचरी-पानी के घर बताना आदि में तत्पर रहते हैं। कुछ लोग ऐसा भी मानते हैं कि यदि साधु-साध्वी डब्बा लें तो हम व्यवस्था देख सकते हैं, अन्यथा हम घर बताने आदि रूप व्यवस्था नहीं कर सकते। कुछ लोगों की ऐसी भी वृत्ति सामने आई कि उस उस सम्प्रदाय के श्रावकों द्वारा उनके पास व्यवस्था करने का पत्र पहुंचे व व्यवस्था के पश्चात् धन्यवाद पत्र भी। इस प्रकार भिन्न-भिन्न रुचि वाले लोग देखे जाते हैं। सबसे उत्तम बात तो यह है कि बिना किसी मान-सम्मान की चाह के मात्र कर्तव्य पालन की भावना से कार्य करे। कार्य यदि साधु-साध्वीजी से सम्बन्धित हो तो उसमें निर्दोषता का पूरा लक्ष्य रखा जाए। साधु के लिए बनवा कर या पैसे देकर व्यवस्था की या करवाई जाती है तो वह सम्यक रूप नहीं है।

कुछ व्यक्ति-संस्थाएं स्वधर्म सहयोग के रूप में, अध्ययन के लिए सहयोग के रूप में एवं उपचार के लिए भी सहयोगात्मक भाव लेकर चलते हैं। उसमें भी मुख्य बात यह होनी चाहिये कि उसे प्रदर्शन का विषय न बनाया जाय। उससे स्वयं को प्रतिष्ठित करने का प्रयत्न न किया जाय। कर्तव्य बुद्धि से कार्य सम्पादित होता है तो उससे वह विशेष रूप से लाभान्वित होता है। मान-सम्मान या नाम कमाने के उद्देश्य से किये गये उपक्रम अत्यन्त हल्के-फुल्के होते हैं। उनसे वह सामान्य लाभ का अधिकारी भी बन पाता है या नहीं, यह संदिग्ध है। अतः जो कार्य किया जाय निस्पृह-निष्काम भाव से, कर्तव्य दृष्टि से किया जाय।

मालीवाड़ी  
5.4.2016  
चै.कृ. 13  
मंगलवार

## विषय की समझ पहली जरूरत

**पां**व की तकलीफ को पहले पण्डरपुर में एक भाई ने दूर करने का प्रयत्न किया। दूसरी बार 50 ग्रीन में एक भाई ने और प्रयत्न किया। बताया गया था उसके संदर्भ में कि उसके हाथ में बहुत यश है। क्रिकेट-कबड्डी वाले खिलाड़ियों को चोट लग जाए तो वह उनका उपचार करता है। तीसरा भाई झाल्टा फांटा से पूर्व उपस्थित हुआ व उसने प्रयत्न किया। चौथा भाई माली वाड़ी में प्रयत्नशील बना। चारों के तरीके भिन्न थे। चारों की सोच-समझ या निदान भिन्न थे। इससे विचार पैदा हुआ कि बीमारी एक है। लोगों का निदान भिन्न-भिन्न है। चारों अपनी समझ के अनुसार प्रयत्नशील बने। सफल वही होगा जिसका अनुभव सही होगा। जिसको तथ्य समझ में आ जाय। अन्यथा अपने-अपने प्रयत्न चलते रहते हैं। अनेक बार हमारे सामने भी तथ्य एक होता है, पर दृष्टिकोण भिन्न-भिन्न होने से परिणाम सही रूप से नहीं आ पाता। इसलिए जरूरी है कि यदि विषय-तथ्य समझ में न आ पाया हो तो पहले उसे समझने का प्रयत्न किया जाय। अपने मन में पूरी खातरी-तसल्ली हो जाय कि मैं जो जान रहा हूँ वह सही है, तभी आगे प्रयत्न किया जाय अन्यथा जिस परिणाम की हम उम्मीद लिये हुए होते हैं, वह पूरी नहीं हो सकती।

बहुधा देखा जाता है कि डॉक्टर हो चाहे एडवोकेट अथवा अन्य कोई, उसको विषय समझ में न भी आए तो वह प्रयत्न करने में तत्पर हो जाता है। कह सकते हैं, ऐसे करते-करते ही तो अभ्यास-अनुभव बढ़ेगा। इससे अनुभव बढ़ेगा या नहीं, यह तो चिन्तनीय बिन्दु है किन्तु विषय के प्रति गहरी जानकारी का जो भाव होना चाहिये, उसके प्रति वह जागरूक नहीं बन पायेगा। वह ऐसे ही कार्य को धकेलता रहेगा। लग गया तो ठीक, नहीं लगा तो उसका बिगड़ा ही क्या? इस प्रकार की लापरवाही उसके जीवन से जुड़ी रहेगी। वह उससे पीछा नहीं छुड़ा सकता। काम निकालना एक बात है और कार्य को विधि पूर्वक सम्पादित करना दूसरी बात है। कार्य को समझ कर विधि पूर्वक सम्पन्न करने का लक्ष्य रहना चाहिये।

पांचोड  
6.4.2016  
चै.कृ.14,  
बुधवार

## किमालोचना : करणीया

**आ**लोचना करना अच्छा है या बुरा? क्या साधु-साध्वी, श्रावक-श्राविकाओं को आलोचना करनी चाहिये? इस प्रश्न का उत्तर लेने के पहले आलोचना क्या है, उसे समझ लेना ज्यादा उपयुक्त होगा। लोचु धातु का प्रयोग देखने के अर्थ में होता है। आ उपसर्ग है, जो समग्रता किंवा मर्यादा का द्योतक है। या यूँ कहें कि उक्त अर्थों में उक्त उपसर्ग प्रयुक्त होता है। इस तरह से आलोचना का अर्थ होता है, समग्र दृष्टियों से देखना। आलोचना साहित्य की भी होती है, जिसे साहित्य समीक्षा भी कहा जाता है। साहित्य के गुण-दोषों को व्याख्यापित करना, दिखलाना आलोचक का विषय होता है। इस दृष्टि से विचार करें तो यह स्पष्ट होता है कि आलोचक पूर्ण रूपेण निष्पक्ष होना चाहिये। यदि इस प्रकार से कोई आलोचना करता है तो बुरा नहीं है। अपितु करना अच्छा है। इससे निष्पक्षता का गुण विकसित होगा एवं तथ्य को प्रस्तुत करने का सामर्थ्य भी। जो वस्तु जैसी है, उसे उसी रूप में व्याख्यापित करने की क्षमता भी बढ़ती है।

आत्मालोचन को तो श्रेष्ठ माना ही है। उसे तो आराधना के तीन सूत्रों में स्वीकार किया ही गया। आराधना के तीन सूत्र हैं- 'आलोएमि.., निंदामि, गरिहामि' आलोचना करता हूँ, निन्दा एवं गर्हा करता हूँ। इस प्रकार से की जाने वाली आलोचना संसार सागर से पार लगाने वाली होती है। संसार से पार कराने वाला कोई भी उपक्रम ग्राह्य होता है। आलोचना शब्द का प्रयोग वर्तमान में गलत अर्थ में किया जाने लगा है। उस प्रकार की आलोचना ज्ञान बढ़ाने वाली नहीं होती अपितु कर्म बंधाने वाली हुआ करती है। साधु-साध्वी, श्रावक-श्राविका कर्म बंधाने वाले कार्यों में सहसा प्रवृत्त नहीं होते क्योंकि उनका लक्ष्य कर्मबंध बढ़ाना नहीं है, घटाना है। ज्ञान वृद्धि के लिए, तथ्य को उजागर करने के लिए, सत्यार्थ गवेषणा, आत्माराधनादि के लक्ष्य से आलोचना करना सुखद है। उक्त प्रकार की आलोचना की जानी चाहिये। किसी को नीचा दिखाने की नीयत से, समय की बर्बादी जिसमें हो, ऐसी आलोचना से बचना ही अच्छा है।

## ज्ञानी की हर क्रिया ज्ञानवर्धक

विहामाण्डवा  
7.4.2016  
चै.कृ.15,  
गुरुवार

प्रश्न होता है – तीर्थंकर व सामान्य केवली भगवान का ज्ञान समान होता है। तीर्थंकर भगवान जो जानते हैं, केवली भगवान भी उसे वैसा ही जान रहे होते हैं। तीर्थंकर भगवान किस समय, क्या फरमायेंगे, यह भी उन्हें ज्ञात होता है। ऐसी स्थिति में वे तीर्थंकर भगवान की देशना में, समवसरण में क्यों पधारते हैं? इसका उत्तर कई दृष्टियों से दिया जा सकता है। प्रथम, यह उनका विनय-सदाचार है। इससे अन्यो को प्रेरणा मिलती है कि जब केवली भगवान सब कुछ जानते हुए भी तीर्थंकर की सभा में पधारते हैं फिर हमें तो पहुंचना ही चाहिये। दूसरी बात, केवली वगैरह तीर्थंकरों की सम्पदा है। सम्पदा जिनकी है, वह उन्हीं के अधीन रहनी चाहिये। यह सच है कि तीर्थंकर भगवान किसी को अपने अधीन करते नहीं, फिर भी जो उनकी निश्रा में होते हैं, वे अपना सौभाग्य मानते हैं कि वे तीर्थंकरों के अंतःवासी हैं। इसलिए वे अपना कर्तव्य समझते हैं कि वे भी तीर्थंकर भगवंतों की सभा में विराजें। इससे शासन की प्रभावना होती है। इसलिए केवली भगवान सर्वज्ञाता होते हुए भी तीर्थंकर भगवंतों की सभा में विराजमान होते हैं। नीतिकार कहते हैं कि एक विद्वान दूसरे विद्वान से मिल जाय तो वह अपनी विद्वता ख्यापित करना चाहता है। एक विद्वान दूसरे विद्वान को देखकर कुकुर की तरह गुराने लगता है<sup>1</sup> किन्तु जिनशासन की महत्ता है कि सर्वज्ञाता होते हुए भी उनका वैसा व्यवहार नहीं होता। अपितु विनयाचार का व्यवहार होता है। लोक व्यवहार में प्रचलित धारणा को लोग वहां भी लागू न करने लगे अथवा लोग यह अर्थ न लगा लें कि जैसे पंडित, पंडित को देखना नहीं चाहता, वैसे ही यहां भी ज्ञानी अन्य ज्ञानी को सहन नहीं करता। ऐसी धारणाएं न पनपें, यह भी एक दृष्टिकोण हो सकता है। यद्यपि सच्चा ज्ञानी तो ज्ञानी से मिलकर हर्षित ही होता है। या यों कहें कि उसे हर्षित ही होना चाहिये। वह दृश्य हम केवली भगवंतों के व्यवहार से समझने लगे व हम भी ज्ञानी पुरुषों के प्रति सदाचार मय व्यवहार करना सीख लें तो यह हमारे लिए महत्त्वपूर्ण प्रसंग बन सकता है। ज्ञानियों की हर क्रिया ज्ञान देने वाली, शिक्षा देने वाली होती है।

1 'पण्डितः पण्डितं दृष्ट्वा श्वेव गुर गुरायते।'

विहामाण्डवा  
8.4.2016  
चै.शु. 1  
शुक्रवार

## अपनी पहचान बनाये रखना

स्थापना दिवस, गुड़ी पड़वा, नया वर्ष आदि कई नामों से आज के दिन को प्रतिस्थापित किया जाता है। प्राप्त जानकारी के अनुसार लोग आज स्वर्ण खरीदने का लक्ष्य रखते हैं। स्वर्ण जातिवान धातु है। धातुओं में श्रेष्ठ धातु है। उस पर कितनी भी चोट पड़े वह शोर नहीं करती। उसे आग में भी डाल दिया जाय तो वह जलती नहीं अपितु शुद्ध हो जाती है। लोगों को जैसे स्वर्ण से प्यार है, वैसे ही उन्हें स्वयं को स्वर्णमय बनाने का प्रयत्न करना चाहिये। भगवान की वाणी हमारे लौहमय जीवन को स्वर्ण तुल्य बना सकती है, बशर्ते वह आत्मसात हो जाए।

कुछ मछुआरे समुद्र में ही पाल डाल कर उसी पर छोटी सी झोंपड़ी बना लेते हैं व उसी में रहते हैं। समुद्री साइक्लोन-तूफान के समय अनेक बार अनेक मछुआरे लापता हो जाते हैं। हमने भी संसार सागर में पाल बांधकर उस पर झोंपड़ी बना कर रहने रूप मनुष्य जन्म को पाया है। यदि सावधानी बरतें तो समुद्र से बाहर हुआ जा सकता है। उस स्थिति में समुद्री तूफान हमारा कुछ भी बिगाड़ नहीं सकेगा। अन्यथा हमारी आत्मा भी पता नहीं किस गति में चली जाए, जहां उसे खोज पाना भी कठिन हो सकता है। नये वर्ष में संकल्प लिया जाय कि हम आत्मा की पहचान को बनाये रखने का प्रयत्न करेंगे। उसकी पहचान धूमिल नहीं होने दें। स्वयं को गंगाजल की तरह बना लें। कहा जाता है, अन्य जल में कीड़े पड़ जाते हैं पर गंगाजल में कीड़े नहीं पड़ते। वैसे ही हम स्वयं को ऐसा बनाएं कि हमारे भीतर कोई कीड़े-राग-द्वेष-ईर्ष्या-डाह नहीं पड़े। हम संसार सागर से बाहर होने का लक्ष्य बनाएं। संसार सागर में रहते रहेंगे तो पता नहीं किस समय तूफान उठे और हमें चतुर्गति में भटका दे। संसार सागर से निकलना तब संभव होता है, जब एक झटके में तैयार हो जाय। अन्यथा झटका खाते-खाते अभ्यस्त हो जाते हैं, जिससे झटके प्रभावी असर नहीं कर पाते। हम कानों से सुनते-सुनते स्वयं को इतना चिकना भी मत होने दें कि उपदेश की बूंदें टिकें ही नहीं। असरकारक हो ही नहीं।



## ज्ञान बढ़े ज्ञानी की संगत

भद्री  
9.4.2016  
चै.शु.2  
शनिवार

**जो** ज्ञान सीखा जाय, वह ऐसा होना चाहिये कि दूसरों को सिखा सकें। ज्ञान-धन ऐसा है, जो जितना दिया जाता है बढ़ता जाता है। प्रज्वलित दीये की लौ से कितने भी दीयों को प्रज्वलित करो कोई फर्क नहीं पड़ता। एक दीया यदि अन्य दीपक, को रोशनी देता है, तो उसकी रोशनी घट नहीं जाती या वह प्रकाश रहित नहीं हो जाता। दीपक, दूसरे दीपक को जला देता है, उससे उसकी रोशनी कम तो नहीं पड़ती पर वह बढ़ती भी कहां है? यह प्रश्न पैदा हो सकता है। उस दीये के प्रकाश में वृद्धि नहीं हुई किन्तु उस दीये से जो दीये प्रकाशमान हुए, उन सबकी रोशनी को संग्रहित किया जाय तो वह प्रकाश कई गुणा अधिक होगा। ज्ञान के विषय में बात ऐसी नहीं है। ज्ञान देने वाले की ज्ञान पर्याय, ज्ञान देते हुए बढ़ती रहती है। शेष ज्ञान लेने वाले के मन में प्रश्न पैदा होते हैं, वह ज्ञान दाता से ही पृच्छा करता है। ज्ञान दाता के समक्ष अनेक बार नये-नये प्रश्न आते रहते हैं। ज्ञानदाता को उनके उत्तर देने के लिये अपनी बुद्धि को दौड़ाना होता है। ऐसा करते हुए उसके ज्ञान का विकास होता रहता है। ज्ञान का कोई संग्रह करे, पर दे नहीं तो वह उसी के साथ खत्म हो जाता है। वह आगे बढ़ नहीं पाता। इसलिये शास्त्रकार कहते हैं, यदि कठिनाई का क्षण आ जाय, जीवन रक्षा का प्रसंग आ जाय तो सबसे पहले ज्ञान-प्रदाता व ज्ञान-ग्राहक को बचाना चाहिये, ताकि ज्ञान परम्परा बनी रह सके। इससे ज्ञान देने व लेने के महत्त्व को समझा जा सकता है। पर हां, ज्ञान दाता को ज्ञान-ग्राहक के भाजन का परीक्षण अवश्य कर लेना चाहिये कि उसका भाजन-मन ज्ञान ग्रहण के लिए उपयुक्त है या नहीं। यदि उपयुक्त नहीं हो तो देने के बजाय नहीं देना ज्यादा उपयुक्त रह सकता है। कच्चे घड़े में पानी भरने से घड़ा तो नष्ट होता ही है, उसके भीतर भरा गया पानी भी दूषित हो जाता है। अतः ज्ञान दिया जाना तो अच्छा है पर पात्र देखकर ही दिया जाना चाहिये। अपात्र को दान कदापि न दिया जाय, चाहे वह कितना भी आग्रह क्यों न करे। देना-लेना एक मात्र श्रुत ज्ञान का ही होता है। शेष का नहीं।

चक लाम्बा  
10.4.2016  
चै.शु.3/4  
रविवार

## धर्म को जानने की दृष्टि पैदा हो

**धर्म** के स्वरूप पर विचार करता हूं, सेठ सुदर्शन आदि के जीवन वृत्त पर जब ध्यान जाता है तो लगता है धर्म का क्या दिव्य तेज उनके जीवन में था। भयंकर आपदा, मारणांतिक स्थिति भी सामने आ गई, तब भी उनका चेहरा म्लान नहीं हुआ। बदन पर कोई शिकन पैदा नहीं हुई। घर-परिवार की चिन्ता से चिन्तित नहीं हुए। क्या अलौकिकता थी उनके जीवन में? वह आई कहां से? निश्चित रूप से धर्म तत्त्व के ज्ञान-विज्ञान से उनके भीतर वह दृढ़ता आई थी। धर्म हमें भी मिला है पर क्या उसके स्वरूप को हम समझ पा रहे हैं? वेशकीमती हीरा भी मिल जाय पर परख न हो तो वह उसे सम्हाल कर रख नहीं सकता। बच्चे को नोट या सोने का खण्ड-टुकड़ा भी दे दो तो वह उसे फेंक देता है, क्योंकि वह उसकी महत्ता को जानता नहीं है। हम भी जब तक धर्म की महत्ता को नहीं जान पायेंगे, तब तक धर्म की तेजस्विता को समझ नहीं पायेंगे। उसका अनुभव नहीं कर पायेंगे। इसलिए जरूरी है कि हमें धर्म तत्त्व को जानने वाली दृष्टि मिले। हम धर्म तत्त्व को जानने में समर्थ बनें। यदि धर्म तत्त्व को जान लिया तो जीवन में उसका असर अवश्य आयेगा। ऐसा नहीं होता कि सही औषधि हो और बीमारी दूर न हो। धर्म की सम्यक जानकारी हमारे में सत्य निष्ठा को जगाती है, जिससे कठिनाई या विपत्ति के क्षण भी हमें विचलित करने वाले नहीं बन पायेंगे। धर्म की दृष्टि पैदा होते ही संसार के सारे सुख फीके लगने लगते हैं। ईमान की आंख खुली रहती है तो बेइमानी हो नहीं सकती। जब भी कोई बेइमानी करता है, उस समय उसके ईमान की आंख बन्द हो जाती है। वैसे तो जन सामान्य कहता है कि भगवान देख रहा है, पर जब वही इनसान गलत काम, बेईमानी-नाइन्साफी करने लगता है तो वह भूल जाता है कि भगवान देखते हैं। वस्तुतः भगवान तो उस समय भी देखते ही हैं। देख नहीं पाता है तो वह उस समय भगवान को नहीं देख पाता। धर्म को जानने की, आत्मा को पहचानने की दृष्टि पैदा हो, ऐसा प्रयत्न करें।

## परार्थी नहीं आत्मार्थी बनें

शेकटा  
11.4.2016  
चै.शु.5,  
सोमवार

श्रद्धा घटने या बढ़ने में साधु-साध्वी का स्वयं का मुख्य रोल रहता है। साधु-साध्वी यदि निस्पृह भाव से आत्मार्थी जीवन जीए तो उसके प्रति श्रावक हो या साधु, श्रद्धा बढ़ जाती है। श्रद्धा किसी का चेहरा देख कर नहीं बढ़ती। उसके लिए साधु-साध्वी का जीवन भी वैसा ही होना चाहिये। श्रावक-श्राविका के प्रति भी लोगों की श्रद्धा तभी बढ़ती है, जब उनके जीवन में वे त्याग-वैराग का भाव देखें। जिसके अन्तर में जितना वैराग्य भाव होगा, जितना उपशम भाव होगा, उतना ही वह श्रद्धा का केन्द्र बनता जायेगा। यदि किसी साधु-साध्वी अथवा श्रावक-श्राविका के प्रति लोगों में अहोभाव नहीं हो तो उन्हें दूसरों को दोष नहीं देना चाहिये। स्वयं का अन्तरालोकन करते हुए देखना चाहिये कि मेरी साधना में कहां कमी है? सबसे पहले तो मेरे मन में ये विचार ही पैदा क्यों हुए कि लोग मेरे प्रति श्रद्धा क्यों नहीं रखते या उनमें मेरे प्रति श्रद्धा क्यों नहीं है? लोगों में श्रद्धा बढ़ाने के लिए कोई क्रिया नहीं होनी चाहिये। वैसा होने पर वह दिखावा होगा, अपने से छलावा होगा। अपने में यह देखो, जब मैं साधु बना, उस समय जो मेरे भाव थे, उससे आज अध्यवसाय विशुद्ध बने हैं, त्याग-वैराग के प्रति भावनाएं प्रबल बनीं हैं या उस समय से भाव शिथिल बने हैं? मेरा समय प्रमाद में जा रहा है या आत्म-हित में सम्पन्न हो रहा है? मैं इधर-उधर की बातों में तो समय नहीं बिता रहा हूँ? मुझ में किसी के प्रति अवज्ञा के भाव तो नहीं पनप रहे हैं? मुझे अपना सुधार कैसे करना है? मुझे दूसरों के प्रति अपने नजरिये को बदल लेना चाहिये। कौन क्या कर रहा है, इससे मुझे कोई मतलब नहीं रहना चाहिये। मुझे अपने आराधना के भावों पर ध्यान देना चाहिये। अन्यों को सुधारने का ठेका लेकर मैं ही बिगड़ गया तो अन्यों का सुधारना मेरे लिये कोई महत्त्व नहीं रखता। सारे प्राणी कर्माधीन हैं। जैसा-जैसा क्षयोपशम बन पाता है, वह उतना ही विकास कर पाता है। प्रयत्नशील अवश्य रहना चाहिये। मुझे आत्म कल्याण की भावना से निरंतर प्रयत्नशील रहना चाहिये। इस प्रकार की सोच से जीवन में अद्भुत परिवर्तन घटित होता है। उससे अन्यों में श्रद्धा के भाव प्रवर्धमान बनते हैं।

शिरसा मार्ग  
12.4.2016  
चै.कृ. 6  
मंगलवार

## अहंकार के स्मारक

एक ही गांव में धर्म स्थान अलग-अलग क्यों बनने लगे? मन्दिर मार्गी, दिगम्बर, तेरहपंथ के अपने-अपने धर्म स्थान हों तो बात समझ में आती है पर स्थानकवासी समाज में भी अलग-अलग धर्म स्थान खड़े होने के पीछे क्या राज है? अलग-अलग धर्म स्थान हमारी असहिष्णुता व अहंकार के स्मारक हैं। अहंकार व असहिष्णुता के कारण पहले सम्प्रदाय खड़ा होता है, उसके बाद वे अपना परचम फहराने के लिये स्मारक खड़े करने लगते हैं। क्या उक्त तथ्य सत्य है? या उपस्थिति ज्यादा होने लगने से हाउस फुल हो जाते हैं स्थान, उसके कारण दूसरे स्थान खड़े करने पड़ रहे हैं? हाउस फुल होने की बात तर्क संगत नहीं है। हाउस फुल होते भी हैं तो कभी-कभी। रोजमर्रा की हालत तो यह होगी कि 5-10 आदमी मिलने भी मुश्किल हो जाते हैं? धर्म स्थान तो खड़े कर लिये जाते हैं किन्तु धर्म करने वालों के ठिकाणे ही नहीं मिलते। ऐसी स्थिति में हाउस फुल होने के तर्क का कोई महत्त्व नहीं है। वस्तुतः ऐसे धर्म स्थान मूछ के बाल बन कर खड़े होते हैं। जैसे मृत व्यक्ति के स्थान पर बुत बनाये जाते हैं, वैसे ही ये जीवित अहंकार के बुत हैं।

होता प्रायः यह है कि पूर्व से जो स्थानक आदि होते हैं उनके पदाधिकारी जब अन्य सम्प्रदाय के संत-सती वर्ग को चातुर्मास हेतु वे स्थान उपलब्ध नहीं होने देते या यों कहें स्थान खाली रहे तब भी अन्य सम्प्रदाय के संत-सतीवर्ग का चातुर्मास करवाने को तैयार नहीं होते, तब उस सम्प्रदाय के श्रावकों के दिल पर चोट पड़ती है। वे सोचते हैं कि हमारी मान्यता के साधु-साध्वी वर्ग के चातुर्मास का तो हम लाभ ले ही नहीं पायेंगे। हमें अब यहां धर्म-ध्यान नहीं करना। अब नया भवन बनाकर वहीं धर्म-ध्यान करेंगे। बस विचारधारा नये भवन बनाने की दिशा में प्रवाहित हो जाती है। एक दूसरा कारण पूर्व के धर्म स्थानकों में जब धर्म क्रियाएं शुद्ध रूप से सम्पादित नहीं हो पाती, तब भी शुद्ध क्रिया के इच्छुक शुद्ध क्रिया करने के लक्ष्य से नये भवन बनाने की दिशा में सक्रिय हो जाया करते हैं। इसमें भी सह अस्तित्व एवं सहिष्णुता का अभाव परिलक्षित होता है।

## रुचि को रोशन करें

बीड  
13.4.2015  
चै.शु. 7,  
बुधवार

एक प्रश्न- धर्म पर श्रद्धा है, धर्म को अच्छा मानते भी हैं, त्याग-प्रत्याख्यान को भी अच्छा मानते हैं पर त्याग-प्रत्याख्यान के प्रति रुचि नहीं बन पाती और न ही उस दिशा में प्रयत्न ही हो पाता है, ऐसा क्यों होता है? जब धर्म को, त्याग-प्रत्याख्यान को अच्छा मानते हैं तो उन्हें स्वीकार भी तो किया जाना चाहिये।

धर्म पर श्रद्धा होना एक बात है पर त्याग-प्रत्याख्यान की रुचि न होना दूसरी बात है। धर्म पर श्रद्धा होती है मिथ्यात्व मोह-दर्शन मोह के क्षयोपशमादि से, जबकि त्याग-प्रत्याख्यान की रुचि पैदा होती है चारित्र-मोह के क्षयोपशमादि से। यदि चारित्र मोह का तदनुरूप क्षयोपशमादि नहीं हो तो त्याग के प्रति रुचि जागृत नहीं हो पाती। कभी-कभी त्याग के प्रति रुचि तो होती है किन्तु उस ओर लक्ष्य नहीं बनता-प्रयत्न नहीं हो पाता। उसका हेतु, अन्तराय कर्म का तदनुरूप क्षयोपशम का नहीं होना है। मोह कर्म या अन्तराय का क्षयोपशम तो होता ही रहता है किन्तु तदनुरूप क्षयोपशमादि नहीं होने से रुचिशीलता किंवा पुरुषार्थ जागृत नहीं हो पाता है। प्रश्न होता है- उसे कैसे जगायें? जैसे थोड़ी सी आग में थोड़ा-थोड़ा करके इंधन डालने से वह बढ़ जाती है, वैसे ही थोड़ी सी रुचि जगे तो छोटे-छोटे नियम-प्रत्याख्यान लेते हुए पुरुषार्थ को बढ़ाते रहना चाहिये। अभ्यास करते-करते एक दिन सफलता मिल सकती है। यदि कोई थोड़ी सी आग को यह देखकर नजर अन्दाज करे कि यह बढ़ जाय तब मैं उसको उपयोग में लूंगा तो शायद वह उसका उपयोग कभी नहीं ले सकेगा। क्योंकि इंधन के अभाव में जो थोड़ी सी ज्वाला-आग अभी दिख रही है, वह भी बुझ जायेगी। उसे बढ़ाना है तो उसमें आहिस्ता-आहिस्ता, थोड़ा-थोड़ा करके इंधन डाला जाता रहेगा, तभी वह प्रज्वलित रह सकती है। इसी प्रकार जो थोड़ी सी त्याग की रुचि जगे उसे आहिस्ता-आहिस्ता बढ़ाते रहना चाहिये। ऐसा करते रहने पर त्याग की रुचि भी बढ़ेगी एवं पुरुषार्थ भी।

बीड  
14.04.2016  
चै.शु. 8  
गुरुवार

## धर्म सुने सौभागी जीव

अथाह जलराशि जिस नदी में हो उसे चलकर कोई पार करना चाहे तो यह संभव नहीं होगा। तैर करके तो उसे पार किया जा सकता है किन्तु चलकर पार करना नहीं हो सकता। उसी सरिता का पानी गर्मी के समय घट कर अर्ध जानू प्रमाण रह गया हो या उससे भी कम जल रह गया हो तो उसे कोई भी व्यक्ति आसानी से चलकर पार कर सकता है। उसी प्रकार, जब मोह कर्म रूपी नदी का पानी सत्तर कोड़ा-कोड़ी प्रमाण स्थिति रूप से भरा हो तो उस जीव को वीतराग वाणी-धर्म श्रवण का अवसर ही प्राप्त नहीं हो सकता, लेकिन जब वही कर्म स्थिति अन्तः कोड़ा-कोड़ी सागरोपम वाली रह जाती है, तब जीव धर्म श्रवण के अभिमुख हो पाता है। उससे पहले उसे धर्म श्रवण का अवसर भी नहीं मिल पाता। संसार में अनन्तानन्त जीव राशि है। उसमें निगोद व स्थावर जीवों को तो अवसर प्राप्त होता ही कहां है? त्रस काय में दो इन्द्रिय वाले प्राणियों से लेकर असन्नी पंचेन्द्रिय प्राणी तक के जीव भी धर्म श्रवण करने में समर्थ नहीं हो पाते। सन्नी पंचेन्द्रिय में भी कुछेक प्राणियों को ही धर्म-श्रवण का अवसर प्राप्त होता है। उनमें भी सुनने वाले बहुत कम-विरले ही होते हैं। इससे जाना जा सकता है कि धर्म श्रवण कितना दुर्लभ है। जो इस तथ्य को जान लेता है, वह कभी उससे वंचित नहीं रहना चाहेगा। अन्य सारे कार्यों को गौण करके भी वह पहले धर्म श्रवण को महत्त्व देगा, क्योंकि वह अत्यन्त दुर्लभ है। सौभाग्य से ही वैसे अवसर प्राप्त हो पाते हैं। इस मायने में हम बड़े पुण्यवान हैं। हमें धर्म-श्रवण का अवसर प्राप्त है। कह सकते हैं कि हमने मोह की नदी का पानी बहुत कम कर दिया है। हम उस नदी को और सुखाने में तत्पर बनें। वह पूरी की पूरी सूख गई तो हम कृत-कृत्य हो जायेंगे। मानव जीवन की प्राप्ति सार्थक हो जायेगी। हम धन्य-धन्य बन जायेंगे। मोह की नदी सूखी नहीं की अन्य कर्मों को दूर करना कठिन नहीं होगा। जब तक मोह सरिता पूरी सूख न जाय, तब तक सावधान रहना चाहिये कि उसमें पानी बढ़ नहीं जाय। पानी यदि बढ़ गया तो धर्म-श्रवण रूपी चल कर उसे पार करना कठिन हो जायेगा।

नीड  
15.04.16  
चै. शु. 1  
शुक्रवार

## मिथ्यात्व का बोझ कितना भारी?

**बो**झ, बोझ ही होता है। द्रव्य बोझ का भार प्रायः हर कोई अनुभव कर लेता है पर भाव बोझ की अनुभूति विरले ही कर पाते हैं। कर्जदार उस बोझ का अनुभव कुछ अंशों में कर पाता होगा। अध्यात्म की दृष्टि में मिथ्यात्व सबसे भारी बोझ है। उससे आत्मा दबी रहती है। वह अपना विकास भी कर नहीं पाती है। व्याख्याकारों ने उदाहरण देते हुए बताया कि किसी पर एक करोड़ का कर्ज हो, वह उसमें से निन्यानबे लाख निन्यानबे हजार नौ सौ निन्यानबे अथवा साढ़े निन्यानबे रुपये का कर्ज अदा कर दे, वह स्वयं को हल्का महसूस करने लगता है। व्याख्याकारों के अनुसार उक्त कर्ज मिथ्यात्व का है। एक करोड़ रुपये के भार के समान मिथ्यात्व का भार है। पर जीव उक्त कर्ज में से जो निन्याणु लाख आदि रूप कर्ज उतार देता है, मात्र पचास पैसे या एक रुपया ही कर्ज रह जाता है तब हल्कापन महसूस करता है। इससे एक बात ध्वनित होती है कि ज्ञानावरणीय आदि कर्मों का भार मात्र एक रुपये या पचास पैसे जितना है। इससे यह बात भी ध्वनित होती है कि मिथ्यात्व का बोझ अत्यधिक भारी है। उसका बोझ उतर जाय तो जीव हल्का हो जाय। अनादिकालीन मिथ्यात्वी जीव जब प्रथमो उपशम सम्यक्त्व पाता है उससे पूर्ववर्ती क्षणों में वह अपूर्व उल्लास का अनुभव करता है। वह उल्लास क्यों पैदा होता है? कैसे पैदा होता है? जीव जब मिथ्यात्व मोह की स्थिति को बहुत कम कर लेता है, परिणामस्वरूप उसके अध्यवसायों में पवित्रता-विशुद्धता आती है। वही उस उल्लास का कारण है। वर्षा के लिए आँखें फाड़-फाड़कर आकाश की ओर देखने वाले को जब आकाश में बादल नजर आने लगते हैं, वह खुशी से झूम उठता है। वे बादल जब बरसने लग जायं, तब उसकी खुशी का कहना ही क्या? वैसे ही मिथ्यात्व का बोझ हटते ही जीव अत्यन्त उल्लासित हो जाता है। एक प्रकार से वह स्थिति आनन्दातिरेक की होती है। उसका अनुभव अध्यात्मजीवी ही कर सकता है? पर यह निश्चित है कि उस समय का आनन्द, उल्लास जीव को एक अलग ही अनुभूति कराने वाला होता है।



## विशेष में जो सामान्य वही विशेष

गले में पत्थर बाँध कर किसी ने किसी को तालाब में डाल दिया। पत्थर बाँधा हुआ होने से वह पानी के तल में ही अटक कर रह गया। यदि पत्थर बाँधा हुआ नहीं होता तो वह पानी की ऊपरी सतह पर आ जाता। जैसे गले में पत्थर भार बाँधा होने से वह पानी में डूब गया, वैसे ही मिथ्यात्व के बोझ से दबा हुआ जीव संसार रूपी सागर में डूब जाता है। संसार रूपी सागर से तिर पाना उसके लिए नामुमकिन है।

मैला कपड़ा चिपचिपा हो जाता है। मोह से मलिन आत्मा संयोगों के चप से चिपचिपी हो जाती है। संयोग संसार का हेतु है। उससे जीव संसार से बाँधा रहता है। संयोगों से मुक्त जीव ही संसार सागर से मुक्त हो सकता है। पत्थर का बोझ जैसे जीव को जल में डुबो देता है, वैसे ही कषाय, राग-द्वेष, तनावदि के बोझ से जीव संसार में डूबा रहता है।

सोडा, सर्फ आदि से वस्त्र का मैल दूर होता हो जाता है। उसका चिपचिपापन हट जाता है, वह सूखकर बन जाता है, वैसे ही तप से जीव-आत्मा का मैल दूर हो जाता है। कषाय का, तेरे-मेरे का चिपचिपापन दूर हो जाता है। आत्मा स्वच्छ हो जाती है। स्वच्छ आत्मा में परमात्मा की झलक दिखने लगती है। धूल धूसरित दर्पण में व्यक्ति अपनी छवि को नहीं देख पाता। मैली बनी आत्मा में भी परमात्मा की छवि नहीं देखी जा सकती।

आज राम नवमी है। मर्यादा पुरुषोत्तम राम का जन्म आज के दिन होने से इसकी संज्ञा राम नवमी, राम की नवमी पड़ गयी। हर किसी के जन्म से तिथि उसी के नाम से नहीं जुड़ जाती, किन्तु जिनमें कुछ अतिशय होता है, उनसे तिथि का सम्बन्ध जुड़ जाता है। राम अतिशय शाली थे। जहाँ उनका राज्याभिषेक होने वाला था, वहाँ उनको वन में जाना पड़ गया। किन्तु उस स्थिति में भी वे सामान्य रहे। इतनी बड़ी घटना से भी उनमें कुछ घटा नहीं। यह अतिशय नहीं तो और क्या है? ऐसी घटनाओं में जो सामान्य रह सकता है, वही विशेष बन सकता है। वह संसार सागर से पार हो तो इसमें आश्चर्य क्या है?

## इदं न मम

कल रात्रि को प्रश्न चला था। प्रश्नकर्ता युवा था। उसका कहना था कि इस उम्र में चंचलता स्वाभाविक है। नहीं होनी चाहिए, पर इन्द्रियां चपल हैं। लड़कियों के प्रति आकर्षित हो जाया करती हैं। ऐसे समय में हमें क्या करना चाहिए ? प्रश्न व्यक्तिगत था, पर विचार करें तो यह प्रश्न व्यक्तिगत नहीं है, अनेक युवाओं, व्यक्तियों से जुड़ा हुआ है। युवा ही नहीं, प्रौढ़ एवं बुढ़ापे में भी इन्द्रियां चपल बनी रहती हैं। बहुत कम लोग इन्द्रियजयी होते हैं। उसमें इन्द्रिय विषय में प्रवाह-पाती लोगों की गणना कम संभव है। सत जीवन में आने के बाद भी मन चंचल हो सकता है। रथनेमि का आख्यान तो आगम में अंकित ही है। अतः जो उत्तर दिया गया उसके भावों को शाब्दिक रूप देने का मन बन गया। श्रीमद् दशवैकालिक सूत्र में कहा ही है, **“जइ तं काहिसि भावं, जा जा दच्छसि नारिओ। वायाइद्धो व्व हढो अट्टियप्पा भविस्ससि।।”**

यदि स्त्रियों को देखकर मन विचलित-कलुषित होता रहा तो जैसे जलाशय आदि में रही हुई हठ नामक वनस्पति पानी के थपेड़े से डोलती रहती है, वैसे ही हमारी चित्त दशा बन सकती है। इसलिए उक्त गाथा के भावों को उस समय मस्तिष्क में लेते हुए उधर से ध्यान हटा लेने का प्रयत्न करना चाहिए। यदि स्त्री के रूप को, हाव भाव को एवं कटाक्षादि चेष्टाओं को, उसके शब्दों को देखते-सुनते रहे या देखे-सुने हुए को बारम्बार स्मृति में उभारते रहे तो मन का विषयानुगत प्रवाह-पाती बनना संभव है। ऐसे समय में जम्बू कुमार, आचार्य पूज्य श्री श्रीलालजी म. सा. आदि आदर्श महापुरुषों के जीवन वृत्त पर विचार करना चाहिए। साथ ही इदं न मम रूपी मंत्र से मन को साधने का प्रयत्न करना चाहिए। यह मंत्र अन्य वस्तुओं के प्रति आकर्षण पैदा हो तो उस समय भी उपयोगी है। किसी भी पदार्थ या व्यक्ति के प्रति मन के आकर्षित होने पर उसके विषय में सोचना बन्द कर देना चाहिए। किसी अन्य विषय पर विचार किया जा सकता है एवं हो सके तो उस स्थान का भी त्याग कर देना उचित रहता है। मन को आकर्षणीय बिन्दु से भीत न करें, बल्कि उसे संयमित बनाने का लक्ष्य अवश्य रहना चाहिए।

## चारित्र की धजियां उड़ाता चित्र

कहीं पढ़ा था पिकासो का एक चित्र बहुत ऊँची कीमत में बिका था। चित्र था एक गरीब महिला का। चित्र ले रईस गाड़ी में आ बैठा। गाड़ी स्टार्ट होने को ही थी कि एक महिला भीख मांगने आई। रईस उसे दुत्कारते हुए झड़वर को गाड़ी स्टार्ट करने को कहता है। गरीब महिला का ध्यान रईस के हाथ वाले चित्र पर गया। वह हैरान रह गई, चित्र उसी का था। उसके विचार बने, चित्र तेरी जय है। तू रईस की गोद में आदर पा रहा है, जबकि मैं जो उसकी पात्र हूँ, उसी रईस से दुत्कारी जा रही हूँ।

इधर मराठवाड़ा विचरण करते हुए यह अनुभव हुआ कि प्रायः स्थानकों में फोटू-चित्र होते हैं। चारित्री को उनके चलते भले ही विहार करना पड़े पर चित्र स्थानक की शोभा बनकर वहीं रहेंगे। चित्र के पात्रों ने अपने समय में संत-महापुरुषों को सम्मान दिया था। संतों के पधारने पर उन्हें वात्सल्य से सिंचित किया करते थे। आज उन्हीं के चित्र संतों को वहां से विहार करने को मजबूर कर रहे हैं। श्रद्धालु कहते पाये गये कि चित्रों के साथ भावनाएं जुड़ी हुई हैं। बोलो यहां भी चित्रों ने जय पाई या नहीं? चारित्री से भावना जुड़ नहीं पाती, पर चित्रों में हमारे मन अटके पड़े हैं। बोलो, चित्रों का चमत्कार है या नहीं? इसी संदर्भ में मुझे एक और घटना याद आ रही है। घटना है आचार्य पूज्य गुरु देव श्री नानालालजी म.सा. के अजमेर चातुर्मास की, जो मेरी स्मृति के अनुसार 1971 में था। प्रवेश के समय किसी ने छिप कर फोटू ले ली। उस फोटू ने फोटू बेचने वालों को निहाल कर दिया। लोग टूट पड़े फोटू खरीदने को। आचार्य देव को जब ज्ञात हुआ कि फोटू की बिक्री हो रही है, उनका स्पष्ट मत था कि- **“समाज में जड़ मान्यता न पनपे। उन्होंने अधिवेशन के दिनों में लगभग पांच हजार जनता के बीच कहा कि मेरी मानते हो तो फोटो को फाड़ कर फेंक दो।”** पर वाह रे फोटो, चित्र, तुम्हारी चमक ने वहां भी जय पाई। आचार्य को मानने वाले बहुतांश ने आचार्य की नहीं मानी। वाह रे जमाना! जहां चारित्र की चांदनी के बजाय चित्र की चमक महत्व पा रही है। चारित्र की धजियां उड़ाता चारित्रि का चित्र।

## सच्चे सुख की पहचान

कांच के कंचे (जिनसे बच्चे खेला करते हैं) सौ, दो सौ की संख्या में इकट्ठे हो जाएं, उनकी संख्या से हर्ष मनाएं कि मेरे पास इतने ढेर सारे कंचे हैं। मैं कितना सौभाग्यशाली हूँ? मैं कितना धनी हूँ? क्या इस प्रकार से उनका सोचना सही है? क्या वस्तुतः इतने कंचों से वह बहुत धनी मानी व्यक्तियों की श्रेणी में आ गया होता है? उसने कंचों के बाजार में अभी दाम करवाए नहीं हैं। यदि वह दाम, कीमत अंकवाए तो उन कंचों का मूल्य कितना होगा, यह अच्छी तरह समझा जा सकता है। दूसरी तरफ किसी को एक असली हीरा मिला, वह बाजार में उसका मोल करने जाए तो उसका मूल्य उसे कितना मिल सकता है, यह जाना जा सकता है। इसी प्रकार जो लोग धन, मकान, सुविधाएं प्राप्ति में ही स्वयं को सुखी मान रहे हों तो समझना चाहिए कंचों की प्राप्ति से खुशी मनाने वालों जैसी ही उनकी हालत है। अधिकांश लोग ऐसे ही सुख की कामना लिए हुए होते हैं। किन्तु वे इस तथ्य से अनभिज्ञ रहते हैं कि यह सुख पानी के फेन के समान है। जब तक पुण्य योग है, तब तक ही उसे वे सुविधाएं प्राप्त हो सकती हैं। पुण्य क्षीण होते ही उसका मान्य सुख कपूर की तरह उड़ जाएगा।

सच्चा सुख अपनी पहचान से मिलता है, दुनिया में अपना परिचय बढ़ाने से नहीं। स्वयं की पहचान स्वयं को होने से वह सुख मिल जाता है। तब उसे बाह्य, भौतिक सुख की चाह, प्यास ही नहीं रह जाती। जो अपना परिचय स्वयं पा लेते हैं, उनके लिए कहा जाता है- **“जिसने अपने से अपनी मुलाकात कर ली, उसने जग में बड़ी बात कर ली।”** वस्तुतः जो स्वयं को जान लेता है, स्वयं को जानने लगता है, उसे बादशाहों का भी बादशाह कहा जा सकता है, क्योंकि वही सच्चा सुख है। असली हीरे की तरह उसका महत्व है। अनाथी मुनि के संपर्क से मगध सम्राट श्रेणिक को अपनी पहचान हो गई थी। परिणाम स्वरूप वह समझ गया कि सच्चा वैभव क्या है? वैसी ही समझ बने तो जीवन की

## साधक की कसौटी है समाधि

**सा**धना पथ स्वीकार करने वालों को उद्देश्य सदा सम्मुख रखना चाहिए। लक्ष्य विस्मृत होने पर साधना मार्ग से च्युत हो जाना संभव है। उस समय पोशाक तो साधना की रह सकती है पर वस्तुतः साधक, साधना पथ पर नहीं हुआ करता। वह किसी और ही राह पर अग्रसर होता रहता है। वह भ्रम में रहता है कि वह साधना मार्ग में गतिशील है, जबकि हकीकत में साधक उस पथ पर हुआ नहीं करता। वह जिस रास्ते से गुजर रहा होता है, वह रास्ता संसार का ही है। क्योंकि रास्ते दो ही हैं। एक संसार का व दूसरा होता है मोक्ष का। मोक्ष का पथ छूट जाय तो संसार का ही मार्ग रह जाता है। संसार क्या है? भौतिकता के प्रति आकर्षण, तेरे-मेरे का भाव, राग-द्वेष की परिणति। साधक यदि उन स्थितियों से युक्त हो जाता है तो वह संसार के मार्ग पर बढ़ रहा है, ऐसा कहने में कोई संकोच नहीं होना चाहिए। श्रीमदुत्तराध्ययन सूत्र में पाप श्रमण का स्वरूप बताया ही गया है। उसी के बीसवें अध्ययन में पोली मुट्टी का उदाहरण देकर समझाने का प्रयत्न किया है। जैसे पोली मुट्टी में होता कुछ नहीं है, वैसे ही उद्देश्य विस्मृत साधक का जीवन पोशाक से तो बन्द मुट्टी के समान है, पर उसमें साधना का मकरंद नहीं होता। साधना का सुधारस तो तब मिलता है जब साधक उद्देश्य को सम्मुख रखता हुआ उसके अनुरूप कृत्य में प्रयत्नशील होता है।

साधना का उद्देश्य सिद्धि पाना है। सिद्धत्व की अनुभूति इस जीवन में समाधि से प्राप्त होती है। समाधि, साधक की कसौटी है, बैरोमीटर है। उसी के आधार पर जाना जा सकता है कि साधक कितना गहरा उतर चुका है। वर्षों से तप-जपादि करता रहे किन्तु अहंकार अजगर की तरह उसमें मौजूद हो, क्रोध सर्प की तरह फुफकार रहा हो तो क्या वह आत्म-समाधि का अनुभव कर रहा होता है? क्या उसकी साधना को पोली मुट्टी की उपमा नहीं दी जा सकती? उसने इतने वर्षों की साधना से पाया क्या? क्रोधादि में पहले भी जी रहा था, अब भी जी रहा है। वस्त्र की सफेदी से जीवन की आन्तरिकता सफेद, उज्वल हो जाना जरूरी नहीं है। जीवन की उज्वलता के लिए उद्देश्य के अनुरूप सतत प्रयासरत रहना जरूरी है।

## अणगार सचमुच अणगार हो

**मैं** सोच रहा था अणगार शब्द पर। सीधा सा अर्थ है जिसके अणार-घर नहीं वह अणगार। प्रश्न हुआ क्या अणार-घर नहीं होने मात्र से ही कोई अणगार बन सकता है? अणगार हो सकता है? यदि ऐसे ही अणगार हो तो भारत में अणगारों की भरमार हो सकती है। घर का अर्थ केवल चार दीवारी से बने मकान को ही नहीं लेना चाहिए। वह तो द्रव्य है। द्रव्य मकान, घर किसी के पास हो या न भी हो, पर भाव घर-अन्तर में घर बसा हुआ होता है तो उसे अणगार नहीं कहा जा सकता। दूसरी बात यह है कि घर का कथन गृहस्थी की भी सूचना करता है यथा श्रुयते इसका, अमुक का घर बसा नहीं है। मकान तो है पर घर बसाने का अर्थ गृहस्थी बसाने से है। साधु, गृहस्थी नहीं बसाता, इसलिए वह अणगार कहलाता है। घर के संदर्भ में विचार करते हुए ऐसा भी विचार पैदा हुआ कि जहां घर वहां डर। घर-गृहस्थी में किसी न किसी प्रकार का डर लगा ही रहता है। वह चाहे इहलोक का हो या अन्य कोई भी। पद-प्रतिष्ठा, इज्जत-आबरू आदि का भी भय बना ही रहता है। गृहस्थी को दलदल भी माना जाता है, उसमें फंसावट बनी रहती है। अणगार वह हो पाता है जो किसी दलदल में फंसा हुआ न हो। जो असंग भाव में जीता है। गृहस्थी में बहुलता मोह-ममत्व की होती है। उसके बिना गृहस्थी चलना कठिन होता है। अणगार उस दलदल से मुक्त होता है। श्रीमदुत्तराध्ययन सूत्र की प्रथम गाथा में अणगार को संयोग से मुक्त होने को कहा है। उससे स्पष्ट है कि द्रव्य-घर न होने मात्र से अणगार नहीं होता। अणगारत्व के लिए संयोगों का त्याग भी जरूरी है। संयोग से मुक्त मनःस्थिति से ही अणगारता का भली भांति निर्वाह किया जा सकता है। अन्यथा मनःस्थिति में उलझा हुआ, द्रव्य-घर के न होते हुए भी अणगारता का परिपालन नहीं कर सकता। अतः जो अणगार है, उसके आगे-पीछे कोई नहीं है। वह स्वयं में होता है और स्वयं ही वह होता है। उसके कतरे-कतरे में केवल उसी की उपस्थिति होती है। उसमें कहीं भी माता-पिता, पत्नी-पुत्र, धन-वैभवादि का कोई भाव परिलक्षित नहीं होता। ऐसी स्थिति अन्तर में घटित होती है तो ही वह अणगार है, अन्यथा उसे श्रीमदाचारांग सूत्र में गेही ही कहा है। कहने का आशय अणगार को सचमुच अणगार ही होना चाहिए।

## संघीय व्यवस्था लाभकारी

**सं**घीय व्यवस्थाओं को व्यवस्थित करने में समय का भोग लगता ही है। उससे स्वाध्याय की हानि भी प्रत्यक्ष है, किन्तु कर्म निर्जरा उसमें भी है। संघ की व्यवस्था भी कुछ अर्थ रखती है। यदि संघीय व्यवस्थाएं समीचीन नहीं होंगी तो संघस्थ सदस्य सम्यक्रीत्या साधना में कैसे प्रवृत्त हो सकते हैं? संघीय व्यवस्था के पीछे मुख्य उद्देश्य संघस्थ साधु-साध्वी निश्चिंतता से धर्म आराधना कर सकें, सब समाधि भाव में रह सकें, रहा हुआ होता है। संघ की व्यवस्था जितनी सुघड़, सुन्दर, व्यवस्थित होगी संघस्थ सदस्य उतने ही प्रशस्त भावों से धर्माराधन में लगे रह सकते हैं। ऐसी स्थिति में स्वाध्याय की कुछ हानि को सहना ही पड़ेगा। किन्तु निर्जरा की दृष्टि से विचार करें तो हानि जैसा कुछ लगता नहीं है।

साधना के दृष्टिकोण से यदि विचार करें तो संघ की व्यवस्था करना भी एक साधना है। साधना नहीं गहरी साधना है। व्यवस्था करते हुए शीत-उष्ण कई विषय आ सकते हैं, उस समय स्वयं को सम रखना, स्वयं को शान्त रखना साधना का ही रूप है। हमारी साधना का उद्देश्य समाधि पाना है, समभाव को बढ़ाना है। स्वयं को उपशम बनाना है। यदि व्यवस्थाओं को करते हुए ये गुण विकसित हो रहे हैं, तो दिशा लक्ष्य के अनुरूप ही है, प्रतिकूल नहीं है। आत्मगुणों का विकसित होना, यही हमारा लक्ष्य है। वह किसी भी उपाय से हो। उसके लिए स्वाध्याय, ध्यान आदि भी माध्यम है एवं संघीय व्यवस्था भी। संघ की व्यवस्था इसलिए जरूरी है कि संघ में बाल, वृद्ध, युवा आदि भिन्न-भिन्न अवस्था के साधक होते हैं। उनमें समन्वय बने रहना जरूरी है। वह व्यवस्था से ही संभव है।

संघ व्यवस्था यदि समीचीन होती है तो उसे देख अन्य बाल-वृद्ध भी संयम पथ को स्वीकार करने में बेहिचक आगे बढ़ सकते हैं। उनको आत्मविश्वास हो जाता है कि हमें भविष्य की चिन्ता करने की जरूरत नहीं है। संघ में ही समुचित व्यवस्था है। अतः संघ व्यवस्था में हो रही स्वाध्याय की हानि के एक पक्ष को ही नहीं देखा जाय।

## एकता परिवार से प्रारम्भ हो

**ए**कता के नाम पर ठगी नहीं होना। मंच पर एकता की बात करने वाले सचमुच में एकता के हिमायती ही हों, ऐसा नहीं कहा जा सकता। एकता की बातें सुनने में, कहने में अच्छी लगती हैं पर एकता में जीना कठिन होता है। मंच पर बोलने वाले एकता के लिए त्याग करने में कितने तत्पर होते हैं? बिना उदारता एकता बनती नहीं। कदाचित बन जाए तो टिकती नहीं। कई नेताओं को एकता की बातें करते हुए देखा जाता है किन्तु उनका परिवार एकता के सूत्र में बंधा हुआ नजर नहीं आता। जब तक व्यक्ति स्वयं एक न हो जाय, उसका परिवार एकता के सूत्र में न बंध जाय, तब तक जैन एकता या विश्व एकता की बात करना बेमानी होगी। जैन एकता की यदि अन्तर में लगन है तो सबसे पहले परिवारों को एक सूत्र में बाँधा जाय। उसके बाद गांव के जैन परिवारों को एक किया जाय। ऐसा करने से जैन एकता राष्ट्रीय धरातल पर भी सध सकती है। पर इतना अवश्य है कि उसमें बेईमानी, नाइन्साफी ना हो। वर्तमान में जहां भी महावीर जयन्ती के सामूहिक कार्यक्रम हो रहे हैं, वे वस्तुतः सभी सम्प्रदायों के हित में नहीं हो रहे हैं। उनमें अमुक-अमुक सम्प्रदाय का ही पोषण होता है। अन्य सम्प्रदायों की मान्यता खंडित होती है। ऐसी एकता अस्वीकार्य है। जैन एकता के नाम से पूर्व में भी संगठन खड़े किए गए, किन्तु उसमें भी धीरे-धीरे अग्रगण्य लोग अपनी-अपनी मान्यताएं पोषित करने लगे, जिससे वे संगठन शिथिल हो गये। अन्य सम्प्रदाय के लोग वहां से कट गये या कुछेक केवल नाम या पद के लोभ में रह गये। वहां सकल जैन समाज की एकता रह नहीं पाई।

यदि एकता के पक्षधर हम हैं तो सबसे पहले अन्य जैनों की निन्दा बन्द करें। किसी भी जैन के साथ बुरा बर्ताव नहीं करें। सामान्य जैन नियमावली बने, उसका सभी पालन करें। मूर्ति, तस्वीर आदि जिन मान्यताओं में नहीं है, उन पर थोपी न जाय। इसके साथ ही हम केवल महावीर को ही न मानें, उन्होंने जो कहा है, उसे भी मानें।



## जन्म दिन की खुशियां क्यों?

**ज**न्म दिन की खुशियां क्या यथार्थ हैं? मोह को मोह का संपोषण है, ऐसा कहा जा सकता है। जो मोह का संपोषक हो उसके प्रति खुशियां वही मना सकता है, जिसने मोह की करतूतों को न जाना हो। जिस मोह ने जन्मों-जन्मों में रुलाया है, भवों-भवों में भटकाया है, उसके प्रति खुशियां कैसे व्यक्त की जा सकती हैं? यदि की जा रही हैं तो इसे गुलामी की मानसिकता ही कहा जा सकता है। गुलाम को मालिक की हां में हां मिलाना होता है, यह उसकी लाचारी भी हो सकती है। भले लाचारी हो या मन से हो, गुलाम को हां में हां मिलाना हो सकता है, पर जो गुलाम नहीं है, वह क्यों हां में हां मिलाएगा?

जन्म कोई गुण नहीं है। यदि जीव ने जन्म लेकर कोई गुणवत्ता प्राप्त की हो, मोह का मानस बदला हो, कषाय की कटौती की हो, कर्मों की बेड़ियों को काटने का प्रयत्न किया हो, आन्तरिक ग्रंथियों को विमोचित किया हो, चित्त वृत्तियों को शांत एवं संतुलित किया हो तो कहा जा सकता है कि उस जीव का वह जन्म उपयोगी बना है। उसने मंजिल को जाना है एवं मंजिल की तरफ कदम बढ़ाये हैं। अन्यथा अब तक जो न अपनी मंजिल ही जान पाया हो और न ही उस ओर कदम ही बढ़ा पाया हो तो उसका जन्म क्या वाकई खुशी देने वाला है? खुशी के लिए कुछ आधार तो होना चाहिए? सभा में लोग ताली बजा रहे थे, मैंने भी बजा दी, यह तो कोई हेतु नहीं हुआ। यह तो बेहोशी है। हमारे मस्तिष्क की पराधीनता है। मैंने जाना कुछ भी नहीं, भीड़ जिधर बढ़ रही थी, मैं भी बढ़ गया। इसे ही तो भेड़ चाल कहा है। यह तो गतानुगतिक है, इसमें मेरा अपना क्या है? जो जन्म मेरी बेहोशी दूर कर दे, मेरी ऐंठ हटा दे, मुझे जीवन का राज बता दे, उस जन्म को, जीवन को धन्यवाद दिया जा सकता है अथवा दिया जाना चाहिए। नदी का पानी चला और समुद्र में जा मिल गया, उसका क्या औचित्य रहा? जैसे जन्म से मिला जीवन प्रवाहित होता हुआ मृत्यु रूपी अथवा संसार रूपी समुद्र में विलीन हो जाय, उसे धन्य कैसे कहा जाय? उसे महत्व कैसे दिया जाय?

## संत दर्शन करना या होना?

**सं**तों के दर्शन, संतों की संगत, संतों की उपासना पुण्यकारक, दुख निवारक मानी गई है। बहुत सारे लोग संतों के दर्शन करते हैं, पर उनके दुख दूर नहीं होते, उसका क्या कारण है? जो लोग संत दर्शन करते हैं, क्या वस्तुतः उन्हें संतों के दर्शन होते हैं? यदि संत दर्शन हो जाय तो दुख निश्चित रूप से दूर होगा। जोरदार वर्षा हो और जमीन का ताप शान्त न हो, यह कैसे संभव है? वर्षा होती है तो जमीन का ताप शांत होता ही है। वैसे संत दर्शन हो जाय तो ताप-संताप दूर होंगे ही। दर्शन करने वाले दर्शन करते हैं, पर दर्शन किसी-किसी को होते हैं। महाभारत के प्रसंग में श्रीकृष्ण के पास दुर्योधन भी आता है और अर्जुन भी। दोनों युद्ध में सम्मिलित होने का आमंत्रण देने आए थे। दुर्योधन ने भी श्रीकृष्ण को देखा और अर्जुन ने भी। अर्जुन को दर्शन हुए। अर्जुन ने जो पाया, क्या दुर्योधन वह पा सका? भगवान महावीर के पास गोशालक भी आया, इन्द्रभूति गौतम भी आया। गोशालक कई दिनों तक साथ रह कर भी भगवान की भगवत्ता के दर्शन नहीं कर पाया, जबकि गौतम को प्रथम दर्शन में दर्शन हो गए। मीरा ने भक्ति की, उसने पाया। मृगावती ने भगवान महावीर के दर्शन किए। उसे जो दर्शन हुआ वह अद्भुत था। उसने भगवान की भगवत्ता को पी लिया। परिणाम स्वरूप महासती चन्दनबाला ने उपालम्भ दिया तो उसे उसने विपरीत रूप में नहीं लिया। वह दुखी नहीं हुई। अतः संतों के दर्शन करना एक बात है एवं सन्त के दर्शन होना अलग बात है। सन्त के दर्शन श्रद्धा से होते हैं। संत का उससे तादात्म्य स्थापित होने पर होते हैं। वैसे दर्शन कोई-कोई ही कर पाता है या हो पाते हैं। सामान्यतया तो ऊपर-ऊपर के दर्शन ही हो पाते हैं। सतसंग या उपासना का स्वरूप भी तादात्म्य स्थापित होने पर ही घटित हो पाता है। वैसे दशा जीवन के दुख-दुर्भाग्य को दूर करने वाली बनती है। अतः संत के दर्शन हों, ऐसा प्रयत्न करना चाहिए।

## साधु जीवन सदा बहार

**खिला** हुआ फूल हर किसी को आकर्षित करता है। यद्यपि वह न तो किसी को बुलाता है न ही आमंत्रण देता है, किन्तु उसकी सुवास, उसका खिला हुआ रूप ही अन्यों को आकर्षित करने वाला होता है। यों भी कह सकते हैं कि उसके खिले हुए रूप से लोग स्वतः प्रभावित होते हैं। व्यक्तियों के प्रभावित होने का कारण पुष्प का खिला हुआ रूप और सुवास है। वैसे ही साधुता जन-जन को प्रभावित करने वाली होती है। दिमाग, सम्प्रदाय के घेरे में अटका रहता है, पर दिल, साधुता से प्रभावित हो जाता है। दिल दिखावे से जल्दी प्रभावित नहीं होता, वह यथार्थ से प्रभावित होता है। उसे प्रभावित करने के लिए तथारूप होना मुख्य बात है।

साधुता को किसी सम्प्रदाय के मुहर की आवश्यकता नहीं होती। फूल, किसी बगीचे में खिले वह समान रूप से आदर पाता है। उस पर किसी उद्यान की छाप लगी हुई नहीं होती। वैसे ही साधुता किसी भी सम्प्रदाय में हो, वह जन-जन के दिल को छूती है। जन-जन उसके प्रति अहो भाव से सराबोर हो जाते हैं। लेकिन वस्तुतः साधुता के दर्शन दुर्लभ हो रहे हैं। श्रीमदुत्तराध्ययन सूत्र के प्रथम व पन्द्रहवें अध्यायन में एवं श्री मद्दशवैकालिक सूत्र व श्रीमदाचारांग सूत्र के आधार पर तुलना करने से संत दर्शन दुर्लभ हो जायेंगे। श्रीमदुत्तराध्ययन में बताया- इंगियागार सम्पन्ने अणुसासिओ न कुप्पिज्जान कोवए आयरियं, अप्पाणं पि न कोवए, इन परिभाषाओं के अनुसार यदि साधुता को ढूँढ़े तो कहीं कहीं साधुता के दर्शन हो सकेंगे। साधु तो बहुत हैं, पर मजहबी हैं। मजहब का पोषण करने वाले साधु अनेक हैं, पर आत्मार्थी एवं साधना में रमने वाले साधुओं की संख्या कम है। आत्मार्थी साधक ही खिले हुए फूल के समान हो सकते हैं। फूल तो अनेक होते हैं पेड़ों पर, लेकिन खिले हुए फूल विरले ही होते हैं। उसी प्रकार साधु तो बहुत हैं, पर खिले हुए पुष्पवत् साधु विरले हैं। वैसे साधु सदा अलमस्त रहते हैं। उन्हें कोई कुछ भी कह दे, वे कुम्हलाते नहीं। सदा बहार है साधु का जीवन।

## सर्जनात्मक सोच का परिणाम

**व्यक्ति** की सोच प्रायः दो तरह की होती है। सर्जनात्मक या विध्वंसात्मक। दोनों ही प्रकार की सोच को जब क्रियान्वित किया जाता है, तब उसमें शक्ति को लगाना होता है। सर्जन में भी शक्ति लगती है एवं विध्वंसन में भी। ऐसा नहीं है कि सर्जन में शक्ति लगती हो एवं विध्वंसन में शक्ति लगानी नहीं पड़ती हो। शक्ति का प्रयोग दोनों में होता है। शक्ति दोनों में खर्च, व्यय होती है। सर्जन में जो शक्ति लगाई जाती है, उसमें प्रायः सौम्यता का भाव रहता है। सर्जन में यदि गुण की बात करें तो अधिकांश सर्जन सतोगुण या रजोगुण प्रधान हुआ करता है। लेकिन विध्वंस प्रायः तमस गुण प्रधान होता है। उसमें रौद्र रस की प्रधानता होती है। यदि उदाहरण लेना चाहें तो आगम युग में रोहिण्य एवं प्रभव आदि ऐसे कई अत्यन्त खूंखार दस्युओं का उल्लेख मिलता है, जो अपने पेशे में अत्यन्त चतुर थे। उन्हें कोई भी मात देने में समर्थ नहीं था। उनको वश में करने के अनेक उपाय हुए। व्यक्ति किंवा समुदाय ने उपायों में भाग लिया, पर कोई सफल नहीं हुआ। वर्तमान में भी आतंक फैलाने वालों को सरकार धर-पकड़ का प्रयत्न करती है, किन्तु कामयाब नहीं हो पाती है। आतंक फैलाने वाले शांति में रहते हों ऐसा भी नहीं है। वे शक्ति का प्रयोग करते हैं, पर वह प्रायः प्रच्छन्न होती है। उससे वे पाप कर्म का संचय करने वाले बन जाते हैं। उनमें भी जब सही समझ आती है, सत्य सापेक्ष चिन्तन बन जाता है तो उनका जीवन ही बदल जाता है। रोहिण्य अपने समय का कुख्यात स्तेन था। वह जो करतूतें करता, उनसे जनता संतप्त रहती। वह स्वयं भी भय से भीत रहता। पर जब भगवान की वाणी से उसने विचारों को मोड़ा तो उसकी तेजस्विता निखर गई। उसने राजा के समक्ष अपना परिचय दे सबको आश्चर्य में डाल दिया। सम्राट के समक्ष इतनी स्पष्टता से बोलना सत्य-निष्ठा का ही परिचायक है। पहले उसकी सोच विध्वंसक थी। वही सोच बाद में सर्जक बन गई। सर्जनात्मक सोच व्यक्ति को सत्य के निकट ले जाने वाली बन जाती है। उसमें मनः स्थिति सुदृढ़ बन जाती है।

## किसकी पहचान किससे

**ने**शनल हाईवे, स्टेट हाईवे, जिला परिषद की सड़कों की अपनी-अपनी पहचान है। प्रधान मंत्री सड़क योजना राशि से बनी सड़क की भी अपनी पहचान है। इसी प्रकार वस्त्रों की पहचान होती है। कोई वस्त्र सूती, रेशमी, नाइलोन, ऊनी आदि रूप होते हैं। व्यक्ति की भी उसके देश, गोत्र, भाषा आदि से पहचान होती है। इसी तरह कोई यह जानना चाहे कि धर्मात्मा, श्रावक एवं साधु की पहचान क्या है? ऐसा क्या है जिससे यह भेद किया जा सके कि अमुक व्यक्ति धर्मात्मा है, अमुक श्रावक एवं साधु है। वस्त्रों-पोशाक के आधार पर तद्गत रूप से व्यपदेश किया जाता है पर वस्त्र उसकी मौलिक पहचान नहीं हो सकती। पोशाक द्रव्य रूप है। द्रव्य रूप से भी धर्मात्मादि हो सकते हैं, लेकिन यदि भाव रूप से उनकी पहचान करना हो तो कैसे की जाय? यदि कोई अवस्था है तो उसके लक्षण भी होंगे ही। उन लक्षणों के आधार पर ही उनका परिचय किया जा सकता है। धर्मात्मा आदि भी अवस्थाएं हैं। उनके लक्षण भी निश्चित रूप से हैं। उन्हीं से उनकी पहचान हो सकती है। उनकी पहचान इस प्रकार है-

**धर्मात्मा-** जिसकी नजर बदल जाय। जो पहले पांच इन्द्रियों के विषयों में मुग्ध रहता था, उनको महत्व देता था। अब वह उनको महत्व न देते हुए आत्मीय भावों को प्रधानता देता है। यानी उसकी नजर बदल गई।

**श्रावक-** जो श्रद्धावान हो, श्रद्धा से जिनेश्वर देवों की वाणी का श्रवण करता हो, जो हेय-उपादेय का विवेक करने वाला हो, धर्म-अधर्म का भेद जानने वाला हो एवं कर्तव्य के प्रति सजग हो।

**श्रमण-** जो समभाव की प्राप्ति के लिए ही श्रम-शील हो। उसकी हर चर्या समभाव को प्राप्त करने के लिए हो। जिसका चलना-फिरना, विहार करना, गोचरी आदि के लिए प्रयत्न करना अथवा अन्य कोई भी प्रवृत्ति समभाव के लिए होती हो, वह श्रमण साधु है।

## पण्डित की पहचान

**श्री**मदाचारांग सूत्र में क्षण को जानने वाले को पण्डित कहा गया है। यथा 'खणं जाणहि पण्डि'। क्षण को अनेक अर्थों में स्वीकार किया गया है। आत्मा, समय, जीवन आदि। उक्त तीनों अर्थों के आधार से चिन्तन करने पर एक नया अर्थ घटित होता है, वह है अस्तित्व, विद्यमानता। आत्मा विद्यमान है। समय भी उपस्थिति को दर्ज कराता है। विद्यमान को ही समय कहा गया है। जो बीत गया वह काल है, जो अनागत है वह भी काल है। वर्तमान क्षण ही समय है। जीवन भी वर्तमान है। अतः वर्तमान को जो जान ले, वह पण्डित है। विद्यमानता का अनुभव करे वह पण्डित है। कहा जा सकता है, आत्मा त्रैकालिक है, उसे क्षण या विद्यमान में कैसे समझा जाय? आत्म संवेदन वर्तमान समय में ही होता है। वह संवेदन ही महत्वपूर्ण है। उसको जानना, सफल बनाना ही सार है, सार्थक है। इसी प्रकार जीवन भी वर्तमान रूप है। जो बीत गया, वो मृत हो गया। जीवन को क्षणभंगुर कहा जाता है, शायद इसलिए ही। वर्तमान क्षण को जो जी न सके, व्यर्थ गंवा दे, वह उसका ज्ञाता कैसे हो सकता है? ज्ञातृत्व अनुभूत समय में ही घटित हो सकता है। यदि ज्ञातृत्व वर्तमान में नहीं है पूर्व में था तो वह ज्ञातृत्व द्रव्य रूप है। अननुभूत अवस्था भव्य द्रव्य होता है।

भाव ज्ञातृत्व-जिस समय में वह उसका अनुभव कर रहा होता है, उसी को स्वीकार किया गया है। इस प्रकार क्षण का अर्थ वर्तमान, विद्यमान घटित होता है। जो जिस समय अपनी विद्यमानता को अनुभूति में जी रहा होता है, वही जीवन है। वही क्षण को जानना है, वही पुरुष का पाण्डित्य है। समय- विद्यमान ही अनमोल है। कहा भी है, 'समय अनमोल जान'। समय अनमोल-अनुभूति अनमोल है। इस संदर्भ में कह सकते हैं कि क्षण ही जानने योग्य है। क्षण को ही जानना चाहिए। जो क्षण को जान लेता है-जी लेता है, वह पण्डित है। वह पाप को खण्डित करने वाला है।

## जानकारियाँ अनुभूतियाँ बनें

**कि**सी भी विषय में निष्णात होने का अर्थ है, उस विषयक अधिक से अधिक जानकारियाँ संग्रहित कर लेना। सूचनाओं को इकट्ठा कर लेना। यह एक प्रकार का कम्प्यूटराइज्ड रूप हुआ। इससे मस्तिष्क तीक्ष्ण हो सकता है। बुद्धि पैनी हो सकती है। तर्क बल सुदृढ़ हो सकता है किन्तु आत्मानुभव-विषय की गहरी अनुभूतियाँ प्राप्त कर ली हों, ऐसा नहीं कहा जा सकता। अनुभूति जीने से प्राप्त होती है। जिस विषय को जो जितना उपयोग से जीयेगा, वह उतना ही अनुभूतियों से लबरेज हो पायेगा। अनुभूतियाँ उसकी अपनी हैं, जानकारियाँ-सूचनाएं पराई हैं। पर हां, उनको जी कर अपना बनाया जा सकता है। जानकारियाँ स्वयं के लिए कुंवारी कन्या के रूप में हैं। अनुभूतियाँ परिग्रहिता रूप हैं। सूचनाएं पच कर जब रस रूप में परिणत हो जाती हैं, तब वे अनुभूतियों का रूप ले लेती हैं। अतः सूचनाएं संग्रहित करने के साथ ही उन्हें आत्म-परिणत भी किया जाय।

सूचनाओं को आत्म परिणत कैसे किया जाय, यह प्रश्न उपस्थित हो सकता है, होता है। तत्त्व ग्राही बुद्धि से वैसा संभव है। तत्त्व ग्राही बुद्धि सूई की तरह तत्त्व में प्रविष्ट हो जाती है और अनुभूति के धागे से उन्हें साँधती जाती है। जैसे असालिया थोड़े समय में ही ढेर सारी मिट्टी को आत्म परिणत करता हुआ पोली कर देता है, वैसे ही तत्त्व ग्राही बुद्धि विषय को आत्म-परिणत करने में समर्थ होती है।

क्षयोपशम की प्रबलता से बुद्धि तत्त्व ग्राही बनती है। उस बुद्धि का जितना प्रयोग किया जायेगा, क्षयोपशम उतना ही बढ़ता जायेगा। परिणाम स्वरूप आत्म-सामर्थ्य, ग्राह्य क्षमता उतनी ही वर्धमान होती जायेगी। क्षयोपशम के बल से तत्त्व ग्राही बुद्धि मिल जाने पर भी उसका यदि प्रयोग न किया जाय तो जंग लगने पर जैसे सूई वस्त्र में आसानी से प्रविष्ट नहीं हो पाती, वैसे ही वह बुद्धि भी तत्त्व में सरलता से प्रवेश नहीं पा सकती।

सूचनाएं, जानकारियाँ कच्चे माल के रूप में हैं। तत्त्व ग्राही बुद्धि मशीन रूप है। अनुभूतियाँ प्रोडक्ट, तैयार माल का रूप हैं। प्रोडक्शन के लिए कच्चे माल की जरूरत होती है, पर कच्चे माल व प्रोडक्ट, तैयार माल का अन्तर स्पष्ट है।

## करें धर्म की पहचान

**ध**र्म की पहचान-जिससे समाधि मिले, शांति मिले, मन स्वस्थ हो जाय, मन की सारी ऊहापोह समाप्त हो जाय। मन के अनुकूल वातावरण के प्रति लगाव व मन के विपरीत वातावरण के प्रति खिन्नता के भाव पैदा न होना। स्विच बोर्ड पर स्विच लगे रहते हैं। प्लग भी हुआ करता है। प्लग के दो छिद्रों में दो तार डाले हुए हों, स्विच ऑन हो, पॉवर हाउस से विद्युत कनेक्शन लिया हुआ हो तो प्रकाश या पंखे की हवा उससे प्राप्त होती रहती है। लेकिन प्लग छिद्रों में रहे हुए तारों में से एक तार भी थोड़ा सा खिसक जाय, सम्पर्क हट जाय तो बिजली गुल हो जायेगी। पॉवर हाउस से विद्युत का प्रवाह चालू होने पर भी वहां वह उपलब्ध नहीं हो पाता। ठीक इसी प्रकार जब तक धर्म से तार जुड़े रहते हैं, व्यक्ति का ज्ञान-प्रकाश सक्रिय रहता है। किन्तु मन के प्रतिकूल व्यवहारादि से जैसे ही तार खिसकते हैं, धर्म का प्रकाश बन्द हो जाता है। व्यक्ति अज्ञान, अंधेरे में आ जाता है। उस समय भले ही स्विच ऑन हो पर ज्ञान प्रकाश उसे मिल नहीं पाता।

धर्म से जिसके तार जुड़ गये होते हैं, उसका जीवन-मरण एक हो जाता है। मान-अपमान में भेद नहीं रह पाता। कोई मान-सम्मान करे अथवा अपमान, दोनों ही स्थितियों में वह एकरस बना रहता है। उसके शांत रस प्रवाह में कोई फर्क नहीं पड़ता। एक उदाहरण फूल का भी ले सकते हैं। पुष्प पौधे पर खिला होता है। पौधा जमीन से जुड़ा हुआ है। उसकी जड़ें जमीन से रस-जीवनी शक्ति लेती रहती हैं, वह रस पौधे की शाखा-प्रशाखा, टहनियों के माध्यम से फूल को प्राप्त होता रहता है। परिणाम स्वरूप वह खिला रहता है, कुम्हलाता नहीं। इसी प्रकार जिसकी जड़ें धर्म से जुड़ी हुई होती हैं, वह कुम्हलाता नहीं। उसे कोई कुछ भी समझे, कोई कुछ भी कहे, उससे उसको फर्क नहीं पड़ता। धर्म क्रियाओं से जो धर्म होता है, वह टंकी के पानी के समान समझा जा सकता है। अन्तर से जो धर्म प्रकट होता है, उसे कुएं के जलवत् समझना चाहिये।



## भावना वेगवती बनी रहे

**कार्य** के प्रारंभ में जैसा उत्साह-उल्लास हो, वैसा ही उत्साह-उल्लास सदैव बना रहना चाहिये। कार्य आरंभ में तो खूब उत्साह हो पर उसके बाद वह शिथिल हो जाय तो कार्य में सफलता मिलना कठिन है, कार्य चाहे कोई भी हो। इसी प्रकार व्रत-नियमादि के विषय में समझना चाहिये। दीक्षा के पूर्व जैसा वैराग्य हो, दीक्षा लेने की जितनी तीव्र तमन्ना हो, दीक्षा के पश्चात् भी मुक्ति-मोक्ष जाने की उतनी ही नहीं, उससे भी अत्यधिक तीव्र भावना होनी चाहिये। भावना-तमन्ना जितनी तीव्र होगी कार्य सिद्धि उतनी ही शीघ्र होगी। गजसुकमाल मुनि की जीवन चर्या को ध्यान में लें। दीक्षा लेने की जो उमंग थी, दीक्षा के बाद उससे भी ज्यादा मोक्ष जाने की उमंग थी। परिणाम स्वरूप जिस दिन दीक्षित हुए, उसी दिन मुक्ति पा गये। विचार करें हमारी मनः स्थिति कार्यारम्भ के पूर्व व इसके बाद कैसी रहती है? अधिकांश व्यक्ति कार्यारम्भ के पूर्व जितने सक्रिय होते हैं, जितने उत्साहित होते हैं, कार्यारम्भ के पश्चात् मन से शिथिल हो जाते हैं। यही कारण है कि ऐसे मनुष्य अपने मिशन में जल्दी सफल नहीं हो पाते।

संत जीवन में आने वालों में दीक्षा के पहले जो उमंग-उत्साह देखा जाता है, बाद में वैसा उत्साह बहुत कम संतों में देखने को मिलता है। प्रायः रूटीन का जीवन जीने लगते हैं। आत्म-चिंतन-मनन का ध्यान ही नहीं आ पाता। क्या उन्हें विचार नहीं करना चाहिये कि उनका उद्देश्य अभी पूरा नहीं हुआ है। दीक्षा लेना ही उद्देश्य की पूर्ति नहीं है। यह तो वैसा ही है जैसे कोई यात्री कहीं की टिकिट लेता है अथवा चुनाव में खड़े होने वाले को किसी पार्टी की टिकिट मिली हो। टिकिट मिल जाना ही सफलता नहीं है। वह तो पहला सोपान है, मंजिल तक पहुंचना अभी शेष है। टिकिट मिलने के बाद चुनाव लड़ने वाला जैसे और अधिक उत्साहित होता है, वैसे ही दीक्षा के बाद उत्साह अनेक गुणित बढ़ जाना चाहिये। उठते-बैठते, खाते-पीते एक ही ध्येय रह जाना चाहिये कि मुझे मोक्ष जाना है। अपने मिशन में सफल होना है।

## भौतिक सम्पदा के अधीन न हों

**ए**यर कंडीशन में बैठा हुआ व्यक्ति अन्यों से बातों में लगा हुआ था। बातें जवानी पर चल रही थीं, इतने में बिजली गुल हो गई, चली गई। जो लोग सुख का अहसास कर रहे थे, अपनी सुख-सुविधाओं पर इठला रहे थे, उनकी सुख-सुविधाएं उन्हीं के लिए कष्ट कारक बन गईं। संयोग ऐसा बना जेनरेटर भी खराब हो गया, इनवर्टर भी गड़बड़ा गया। जितनी ठण्डक का अनुभव कर रहे थे, उससे बढ़ कर गर्मी उन्हें सताने लगी। भौतिक सुखों के यही हालात हैं। जब तक पुण्य रूपी पाँवर हाउस से पाँवर आता रहता है, सुख-वैभव का आनंद उठाते रहते हैं। उससे पाँवर आना बन्द होते ही दशा बदल जाती है। राजा को रंक होते क्या देर लगती है। सेठ धन्ना के द्वारा गृह त्याग करते ही घर की दशा बदल गई। माता-पिता, भाई-भावजें दर-दर की ठोकें खाने लगे थे। अतः भौतिक सुख-सुविधाएं प्राप्त हो भी जाएं तो इठलाओ मत। समझो पुण्य के झोंके से ये फल प्राप्त हुए हैं। जैसे हवा के झोंके से पके फल गिर जाते, प्राप्त हो जाते हैं, वैसे पुण्य के झोंके से ये फल मिले हैं। यदि पाप कर्म का झोंका आ गया तो जो प्राप्त है, उसे नष्ट होते देर नहीं लगेगी। अटल बिहारी वाजपेयी को एक वोट के कारण प्रधानमंत्री पद से हटने की नौबत आ गई। वर्तमान में कांग्रेस को लोक सभा में जो करारी हार का सामना करना पड़ा, उसके पीछे पुण्य के पाँवर की कमी ही कही जायेगी। भगवान महावीर को कानों में कीलें ठोंकी गईं, गजसुकमाल के सिर पर अंगारे रखे गये, इनके पीछे भी वही पाप कर्म का झोंका था।

भौतिक सुख-सुविधा रहे या न रहे अपने हाल में मस्त रहना चाहिये। भौतिक सुख-सुविधाएं मिलने पर उनके अधीन मत बनो और चले जाने पर उनका रोना मत रोओ। राम की तरह कर्तव्य पथ को देखो। चाहे कण्टका-कीर्ण मार्ग पर चलना पड़े तो हंसते-हंसते चलो। विफलता का प्रभाव मन पर कभी मत पड़ने दो। विफलता में तीन अक्षर तो वे ही हैं जो सफलता में हैं। असफलता में सफलता छिपी हुई है। अभी उसकी अगुआई अ कर रहा है। उसके हटते ही अगुवाई सफलता को मिलने वाली है। पुण्य भोग करो पर उसके अधीन मत बनो।

## रहे न एक सी, रहो एक से

पुण्य सदा एक सा रहता नहीं है पर रह सकता है। यदि सतत शुभ-आर्य-हितकर कार्यों में ही प्रवृत्ति होती रहे। कभी भी शुभता से अलग न हो। मन भी सदा शुभ सात्विक विचारों का जनक हो। अशुभता की तरफ कभी गति न करे। किसी का अहित न सोचे न करे। सदा सरलता-सहजता का प्रवाह चलता रहे तो आने वाला समय व्यक्ति के लिए निश्चित रूप से शुभ होगा। हीरे के व्यापारी के हाथों में हीरे ही आते हैं। बैंक कैशियर के हाथों में नोट ही आया करते हैं। इसी प्रकार शुभ सात्विक भावों में चलने वालों के लिए हर क्षण, हर पल शुभ ही होगा, अशुभ नहीं।

इससे विपरीत पाप पीछा छोड़ता नहीं है। पर पाप से पिण्ड छुड़ाया जा सकता है बशर्ते कभी स्वप्न में भी अशुभ, अहित, अनार्य विचार न पैदा हों और न ही तदनु रूप कार्य ही। कभी भी किसी के प्रति ईर्ष्या-द्वेष का भाव अपने में पैदा न होने दिया जाय। कहा जा सकता है यह तो असंभव है। असंभव तो नहीं पर हां कठिन अवश्य है। कठिन को साधा जा सकता है, असंभव को नहीं। इसलिए सदा अच्छे विचारों में ही स्वयं की प्रवृत्ति हो, ऐसा लक्ष्य रखा जाना चाहिये। सदा सद् विचारों में रहा जा सकता है, जैसा कि श्रीमद्दशवैकालिक सूत्र की पहली गाथा में कहा गया है- **'जरस धम्मे सया मणो'** अर्थात् **'जिसका मन सदा धर्म में लगा रहता है'** - यदि सदा धर्म में मन लगना संभव नहीं होता तो ऐसा कथन आगम में होता ही कैसे? आगम इसका सपोर्ट कैसे करता? आगम बोल रहा है यानी ऐसा होता है। होना संभव है।

पुण्य-पाप दोनों को ही मोक्ष जाने के पहले छोड़ना होगा। दोनों में से एक भी रहेगा तो मोक्ष नहीं होगा। लेकिन पुण्य की गाड़ी आराम से पहुँचायेगी और पाप की गाड़ी संसार में ही घुमाती रहेगी। इसलिए मोक्षाभिलाषी साधकों को कभी भी पाप वर्धक अशुभ, अनार्य, अहितकर कृत्यों की ओर गति नहीं करनी चाहिये। उनका कोई कितना भी बिगाड़ कर दे पर वह कभी भी किसी का बुरा नहीं करे। उसका एक ही लक्ष्य रहे- जो करना सो अच्छा करना।

## जवाबदारी का निर्वाह ईमानदारी से हो

जवाबदेही का अर्थ है प्रतिबद्धता। जो भी जवाबदारी स्वीकार की गई हो, उसे यथा विधि निर्वाह किया जाना चाहिये। जवाबदारी का निर्वहन करने से व्यक्ति की इज्जत-साख बढ़ती है। लोग उसे भरोसेमंद मानते हैं। जन-जन में यह विश्वास हो जाता है कि अमुक व्यक्ति ने यदि जवाबदारी ओढ़ी है, स्वीकार की है, तो कार्य अवश्य समय के साथ पूर्ण होगा। बहुत सारे व्यक्ति ऐसे हैं जो समयबद्धता से कार्य करते हैं। कई लोगों की मनः स्थिति इससे विपरीत भी देखी जाती है। वे कार्य अनेक स्थानों से ग्रहण कर लेते हैं, पर समय के पूर्व या समय सीमा आ जाने पर भी कार्य को पूर्ण नहीं कर पाते, बस आज देते हैं, दो दिन में देते हैं, ऐसा कहते कहते दस-पन्द्रह दिन निकाल देते हैं। ऐसे लोगों को कार्य वे ही लोग देते हैं, जो जानते हैं कि अपने को पूरा कार्य पन्द्रह दिन के बाद ही मिलेगा। पन्द्रह दिन के बीस दिन भी हो सकते हैं, पर पन्द्रह दिन के दस दिन होना कठिन है।

प्रतिबद्धता के अभाव में अनेक कहानियां होती देखी-सुनी गई हैं। कई संस्थाएं अभिनन्दन ग्रंथ या अन्य पुस्तकों को अमुक समयावधि पर प्रकाशित कर भेंट या विमोचन-लोकार्पण करने का लक्ष्य रखती हैं किन्तु समय पर केवल औपचारिकता ही सम्पन्न हो पाती है। दो-चार ग्रंथ ही उन्हें उस समय मिल पाते हैं। उन्हें ही वे लोकार्पण कर कार्य विधि की सफलता मान लेते हैं। सोचें! यदि जवाबदारी से काम नहीं कर टाल-मटोल या लेट-लतीफी की आदत बन जाय तो ऐसा व्यक्ति क्या समय पर सफलता प्राप्त कर सकता है? शायद कभी नहीं। लेट करने से यात्रा वाहन समय पर नहीं पाने से यात्रा निरस्त करनी होगी। बैंक समय पर न पहुंचे तो बहुत बड़ा खामियाजा उठाना पड़ सकता है। समय पर वादा पूरा न किया जाय तो क्या सौदा बना रह सकता है? शायद नहीं। साधु हो या गृहस्थ, जवाबदारी का निर्वहन पूर्ण प्रतिबद्धता से करना चाहिये।

## धर्म-प्रवेश के कुछ बिन्दु (टिप्स)

**भौ**तिक चकाचौंध से हटकर दृष्टि अध्यात्म-आत्मपरक बन जाय उसी का दूसरा नाम धर्म है। एक तरफ देखते हैं तो धर्म, क्रियाओं में फंस कर रह गया। जितना महत्त्व क्रियाओं ने पाया, धर्म ने नहीं पाया, जबकि महत्त्व धर्म को मिलना चाहिये था। क्रियाएं धर्म तक पहुंचने के लिये थीं अथवा धर्म दृष्टि से वैसी क्रियाएं-जीवन व्यवहार सहज बन जाता है जो भावपूर्वक होतीं। भाव शून्य क्रियाएं मात्र कलंकर हैं। उनसे पुण्यार्जन हो सकता है पर मोक्ष नहीं। धर्म प्रवेश के लिये कुछ टिप्स हैं। उनका धार्मिक क्रियाओं के साथ समन्वय होना चाहिये। यथा- क्रोध करना ही नहीं। आये तो निष्फल करना। यदि एकदम ऐसा संभव न हो तो कम से कम पाक स्थान व भोग्य स्थान (किचन एवं डाइनिंग रूम में) पर तो क्रोध किया न जाय। अहंकार को तिरोहित किया जाय। इसकी कार्य शैली ऐसी हो- व्यक्ति यह देखे कि मेरे कारण से परिवार, समाज का कोई व्यक्ति परेशान तो नहीं है। यदि मेरे किसी भी स्वभाव या प्रवृत्ति से कोई परेशान हो तो मुझे अपनी प्रवृत्ति, आदत में सुधार करना चाहिये। यदि दीक्षादि धार्मिक कृत्यों के लिए कोई परेशान होता हो तो उन्हें धर्म के सही स्वरूप का परिचय कराना चाहिये। खाद्य पदार्थों के प्रति आसक्ति भाव न हो। इसके लिए जरूरी है कि खाद्य पदार्थों की कोई प्रतिक्रिया न की जाय। किसी भी पदार्थ की सराहना या निन्दा न की जाय। न ही मन में कोई विपरीत विचार, प्रतिक्रिया ही पैदा हो। गर्मी में मरुस्थल की तरह मन निखालिस रहे। दृष्टि तटस्थ, मध्यस्थ भाव की दिशा में गतिशील बनाई जाय। जैसे लोहे व पारस के बीच में एक पतली सी झिल्ली पारस का प्रभाव लोहे पर होने नहीं देती, वैसे ही 'इदं न मम' की झिल्ली हमारे मन में निर्मित हो, जिससे पारिवारिक सदस्यों के राग-मोह हमारी मनोभूमि को प्रभावित न कर सके। पारिवारिक सदस्यों के साथ उठे-बैठें, खाएं-पीएं पर उनसे जुड़ाव न होने दे। अनाज कोठी में भरा रहता है, कोठी में काफी समय तक वह पड़ा रहता है, लेकिन जब कोठी से अनाज खाली किया जाता है तो कोठी में अनाज का लेप भी नहीं रहता। उसी प्रकार स्वयं को मोह-रागादि से लेप रहित बनाये रखने का प्रयत्न किया जाय। इस प्रकार से ये व अन्य बिन्दुओं का यथायोग्य संयोजन करके उनका अन्तर मन से पालन करने का प्रयत्न किया जाना चाहिये।

## देखो-देखो और देखो

**इ**नकम टैक्स अधिक नहीं लग जाय, इसके लिए खाता-बही के एक-एक पन्ने को गौर करके देखा जाता है। यदि कहीं पर भी गड़बड़ लगे तो उसे तत्काल सुधारने का प्रयत्न होता है। कपड़ों पर कोई दाग लग जाय तो उसे भी दूर करने के लिए तत्परता रहती है। शरीर में कोई रोग आ जाय तो उसकी निवृत्ति के लिए त्वरित प्रयत्न होता है। एक बार अनाज को बिना बीने पिसवा देने पर आटे में यदि किर-किर आती है तो दूसरी बार अनाज को बिना बीने पिसवाने की स्थिति नहीं बनेगी। व्यक्ति चाहता है रोटी खाने में किर-किर न आए। जब टैक्स बचाने के लिए खाता-बहियों को देखने का समय लगाया जा सकता है, कपड़ों के दाग को दूर करने का प्रयत्न किया जा सकता है, देह रोग की निवृत्ति के लिए प्रयास किया जा सकता है, आटे में-खाने में किर-किर न आए इसके लिए अनाज को बीना जा सकता है तो अपने अन्तर की परतों को क्यों नहीं देखा जाना चाहिये ?

देखो, टैक्स की तरह कर्म बन्ध अधिक न हो जाय, मन पर दाग गहरे न हो जायं, मन का रोग बढ़ न जाय एवं जीवन जीने में किर-किर न आए, इसके लिए मन की एक-एक परत को खोल कर देखना पड़ेगा। कैन्सर के जर्म्स कहीं रह न जायं, उन्हें जैसे बारीकी से देखा जाता है, वैसे ही मन का परीक्षण भी सूक्ष्म रूप से किया जाना चाहिये कि उसमें क्रोधादि एवं आसक्ति आदि के कोई जर्म्स रह न जाय। राग-द्वेष के बारीक कीटाणु भी उसमें रह न जायं, क्योंकि उनसे संसार वृद्धि का खतरा बराबर बना रहता है। सूक्ष्म राग-द्वेष के कीटाणु भी कब कितने सक्रिय हो जायं कहा नहीं जा सकता। जो निरन्तर घर की सफाई करता रहता है, उसके घर की फर्श चमकती रहती है, उसमें कचरा बढ़ नहीं पाता। उसी प्रकार मन की सफाई भी निरन्तर की जानी चाहिये, अन्यथा भीतर की परतों पर कितना मैल जम जायेगा, यह विचार करके रोज मन को साफ करो।

## साधना-निरन्तर प्रयत्न

**म**न-वचन-काया को सुव्यवस्थित करने के लिए जो निरन्तर प्रयत्न जारी रहता है, वह साधना है। मन को साधने के लिए देखना होगा कि मन कब किस रूप में परिणत हो जाता है। उसमें कब तनाव आता है, कब खुशी होती है। तनाव व प्रसन्नता के कारणों को जानकर उनकी समीक्षा करना कि क्या वस्तुतः अमुक कारण से तनाव आना चाहिये था? क्या तनाव जरूरी था? क्या बिना तनाव के अमुक कारण का निवारण नहीं हो सकता था? क्या तनाव से कारण की निवृत्ति हो जाती है? इसी प्रकार प्रसन्नता के विषय में भी अनुप्रेक्षा करनी चाहिये। साथ ही यह भी जानने का प्रयत्न करना चाहिये कि तनावदि में अपना स्वार्थ तो निहित नहीं है? उसमें मैं, मेरे अहंकार को तो पुष्ट करने का प्रयत्न नहीं कर रहा होता हूँ? इस तरह शोध करने से हमारा अंतरंग हमारे सामने स्पष्ट होने लगेगा।

वचन की साधना का तात्पर्य वचन का सुव्यवस्थित रूप से प्रयुक्त करना, वचन का दुष्प्रयोग नहीं होना चाहिये। बोलने के पूर्व सोचना चाहिये कि मैं जो बोल रहा हूँ, उसका प्रभाव क्या होगा? बोलते वक्त मेरे भाव कैसे हैं? मेरी बोली किसी की हँसी उड़ाने के लिए न हो। किसी का दिल दुखाने वाली न हो। हमारी बोली से किसी का दिल दुख जाय, वह बात अलग है, हमारे भाव किसी को कष्ट पहुंचाने वाले न हों। भाषा सहज-सरल हो। घुमा फिरा कर कहने की प्रवृत्ति न हो। वचन सत्य हो, प्रिय हो, मधुर हो, दूसरों को सुहाने वाले हों।

काया का सम्यक् नियोजन करना काय साधना है। काया से यतना का पालन हो। काया की प्रवृत्ति किसी को कष्ट पहुंचाने वाली न हो। आगम के अनुसार जयं चरे जयं चिट्ठे जयमासे, जयंसए, जयं भुंजतो, भावन्तो पाव कम्मं न बंधइ। अर्थात् काया की समग्र प्रवृत्ति अहिंसा देवी की आराधना करने वाली हो। काया को जितना स्थिर रख सकें वह काय संवर का रूप होगा। इसी प्रकार मौन रखना वचन का संवर है तथा मन का गोपन करना मन का संवर है। मन-वचन-काया को सुव्यवस्थित करने के लिए निरन्तर प्रयत्न साधना

## “जैनं जयति शासनम्” पथ

**म**न के प्रतिकूल होते ही मन ठनक जाता हो तो समझो अभी मन को साधने की बहुत जरूरत है। मन के अनुकूल हो, प्रतिकूल हो, कुछ भी हो उससे उसका क्या बिगड़ रहा है? प्रतिकूल स्थिति में मन का ठनकना कहीं न कहीं अहंकार का द्योतक है। भले ही साधक यह मान रहा हो कि वह अहंकार मुक्त हो रहा है, पर हकीकत उससे बहुत दूर है। यदि अहंकार से वह मुक्त हो गया होता तो उसका मन नहीं ठनकता। मन ठनकने का दूसरा कारण व्यक्ति की अपेक्षाएं हैं। जब उसकी अपेक्षाएं पूर्ण नहीं हो पातीं तब उसके अहंकार को भारी ठेस लगती है। उस ठेस से वह तिलमिला जाता है। यहीं उसका माथा, मन ठनक जाता है। ऐसे प्रसंग पर साधक को सोचना चाहिये कि मैंने किसी से अपेक्षाएं क्यों जोड़ीं? मुझे स्वाश्रित रहना चाहिये था। पराश्रित जीवन में व्यक्ति को कहीं न कहीं दुख झेलना ही पड़ता है। संत श्री तुलसीदासजी ने ठीक ही तो कहा है, पराधीन सपनेहु सुखु नाहीं।

मौके के स्थान पर बना बंगला कोई लेना चाहे तो उसे बहुत कीमत चुकानी पड़ती है। मनुष्य तन में जिन शासन की प्राप्ति, यह मौके के स्थान का बंगला है। जहां से चार गति के रास्ते तो जाते ही हैं, एक वी. आई. पी. मार्ग, मोक्ष मार्ग भी उसी बंगले के सामने से जा रहा है। लेकिन उस पर चलने वाले के लिए शर्त है, जैसे मेटल डिटेक्टर को मेटल रख कर कोई पार नहीं कर सकता, उधर से गुजर नहीं सकता, वैसे ही मोह-ममत्व रखते हुए इस मार्ग से गुजरना संभव नहीं है। इस रास्ते पर चलने वाले को अनासक्त-निस्पृह भाव से चलना जरूरी है। यदि स्पृहा एवं आसक्ति के बोझ उठाकर चले तो उधर से चलना वर्जित है। मन के अनुकूल-प्रतिकूल स्थितियों में सम रहे बिना भी उस मार्ग पर चल पाना कठिन है। जैनं जयति शासनम् मार्ग पर चलने में ही जीवन का मंगल है। अनुकूलताओं-प्रतिकूलताओं से मन को उपरत करते हुए “जैनं जयति शासनम्” पथ पर गतिशील बनें।



## किं कर्तव्यं मया

मनुष्य का मन बहुत कमजोर है। उसमें ऊहापोह होती रहती है। कभी बहुत ऊँचे विचार करता है तो कभी विचार अत्यन्त अधोमुखी हो जाते हैं। कभी वह निस्पृह साधक बन जाता है तो कभी स्पृहा के दलदल में धँस जाता है। प्रसन्नचन्द्रराजर्षि का आख्यान उसके लिए ज्वलन्त उदाहरण है। मन में जब अपनी प्रसिद्धि की आकांक्षा उठे, मन चाहे कि मुझे लोक मान्यता मिले, मेरा यश फैले, नाम हो तो ऐसे समय में साधक को सोचना यह चाहिये कि मेरा वर्तमान कैसा है? मैं वर्तमान में क्या कर रहा हूँ? साथ ही यह भी विचार करना चाहिये कि जो विषय मेरे अधीन ही नहीं है फिर उसकी कामना क्यों करूँ? यदि अनधिगत की चाह करूँगा तो उसका परिणाम दुख के अलावा और कुछ भी नहीं है। मन को व्यथित करने के बजाय मन को शान्त रखना उपयुक्त है। मुझे लोक मान्यता मिले न मिले उससे क्या होगा? क्या लोक मान्यता प्राप्त करने से जीव सुखी हो जायेगा? उसका मन तृप्त हो जायेगा? यदि नहीं तो वैसी चाह करने से फायदा ही क्या? साधक को अपने कर्तव्य पर दृष्टि केन्द्रित करनी चाहिये। उसे सोचना चाहिये कि मेरा कर्तव्य क्या है? मेरा करणीय क्या है? मैं अपने कर्तव्य के प्रति कितना सजग हूँ? इस प्रकार से उसे अपने कर्तव्य के प्रति जागरूक बनना चाहिये। कर्तव्य के प्रति जागरूक होने से मन उसी में लीन हो सकता है। गीता में भी इस प्रकार प्रेरणा प्राप्त होती है। जैसा कि कहा गया है—

**‘कर्मण्ये वाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन’** कर्म करना तुम्हारे अधिकार में है, फल को मत देखो। जो करने योग्य है, उसे करते जाओ। उससे मानसिक समाधि प्राप्त हो सकती है। अन्यथा ऊहापोह के दलदल में कितने गहरे उतर जायेंगे ज्ञात ही नहीं हो पायेगा। ऊहापोह का दलदल बड़ा भयंकर है। उससे निकल पाना दुष्कर ही नहीं अति दुष्कर है।

## ऊपर-ऊपर नहीं, गहरे में

**श्री** जयप्रभ जी को लगा कि उनका उपनेत्र (चश्मा) पीछे छूट गया। उन्होंने अपना सामान टटोला पर मिला नहीं। निश्चय हो गया कि चश्मा छूट गया। कुछ सामान साथ वाले संतों को दे, वे वापस लौटे। पर चश्मा वहां नहीं है, ऐसा उनको दर्शनार्थियों से ज्ञात हो गया। उन्होंने अपना सामान ठीक से देखा तो ज्ञात हुआ कि चश्मा खडिये में सामान के नीचे आ गया। राहुरी आने पर वार्तालाप में उन्होंने कहा, पहले ऊपर-ऊपर देखा था, नहीं मिलने से उसके लिये वापस लौटा, पर बाद में सामान को गहरे, ठीक से देखा तो मिल गया। उस समय उनसे कहा गया है—यही हालत हम सबकी है। हम ऊपर-ऊपर देख कर ही रह जाते हैं। जो चीज गहरे में है, वह ऊपर-ऊपर कैसे मिल सकती है? वस्तुतः सामान्यतया व्यक्ति ऊपर-ऊपर ही देखने के अभ्यासी होते हैं। गहरे में उतरने वाले बहुत कम होते हैं। गहरे में पैटे बिना तथ्य उनको हाथ नहीं लगता। व्यवहारिक क्षेत्र में देखा जाता है कि धर्म स्थानक में आने के पांच नियम-अभिगम जानने वाले बहुत हैं, पर ऊपर-ऊपर से। क्योंकि क्रिया पक्ष में वे अभिगम का पालन करते हुए दृष्टिगत नहीं होते। भगवान महावीर पर उनकी जितनी आस्था है, भगवान महावीर ने जो कहा है, उस पर उतनी आस्था नहीं है। है भी सही तो उसकी परिपालना के लिए उतनी तैयारी नजर नहीं आती। यह दशा दर्शाती है कि ऊपर-ऊपर से हमने ज्ञान लिया, रट लिया किन्तु उसके हार्द को नहीं समझ पाये। आवश्यकता है जो कहा गया है उसके भावों को समझें एवं जीवन व्यवहार में उतारें। यदि भगवान महावीर की बात को भी मानने की हमारी मनःस्थिति नहीं हो तो उनके नाम को आगे रखकर मनमानी करना क्या उचित है? यदि हमने उनका पथ अपनाया है, समझा है, जाना है, तो हमें उसी के अनुरूप प्रवृत्ति करनी चाहिये, अन्यथा नाम तो महावीर का लेंगे, काम अपना करेंगे। इस प्रकार की वृत्ति से गहराई में प्रवेश कठिन है। भगवान महावीर को जानना है तो उनमें गहरे उतरना जरूरी है।

## मिथ्यात्व क्या सम्यक्त्व क्या ?

**म**न्दिर-मस्जिद जाने मात्र से मिथ्यात्व लगना नहीं माना जा सकता। भगवान ने मिथ्यात्व बताया है- मोक्ष मार्ग को संसार का मार्ग व संसार के मार्ग को मोक्ष का मार्ग मानना। वस्तुतः जो संसार का मार्ग है या मोक्ष का मार्ग है, उससे विपरीत मानना-श्रद्धान करना गलत ही है। जो जैसा है, वैसा मानना ही सत्य होता है। हिंसा, झूठ, छल, कपट का मार्ग संसार का है। उस पर चल कर, उसका आचरण करके कोई मोक्ष नहीं जा सकता। अतः यदि परिवारादि के सामंजस्य को ध्यान में रखकर कोई मन्दिर में चला भी गया पर प्रतिमा को भगवान-अरिहंत-सिद्ध मानने रूप उसका श्रद्धान नहीं है, वह प्रतिमा को प्रतिमा मानता है, उसे अरिहंत-सिद्ध नहीं तो उसे मिथ्यात्व लगना संभव नहीं है। यह ठीक है कि उसके देखा-देखी दूसरे व्यक्ति, अनजान व्यक्ति उस राह को सम्यक समझ उसे पकड़ न लें इसका विवेक अवश्य रखा जाना चाहिये। भगवान शान्तिनाथ, कुन्धुनाथ, अरनाथ तीर्थंकर बनने के पहले चक्रवर्ती थे। चक्रवर्ती की आयुधशाला में चक्र रत्न प्रकट होने पर उसकी पूजा आदि करने का वर्णन मिलता है। इसका अर्थ यह हुआ कि जीताचार का पालन करना अनुचित नहीं है, किन्तु उसमें धर्म श्रद्धान करना या उसे मोक्ष का मार्ग समझना गलत है, क्योंकि वह वैसा है नहीं। एक सम्यकदृष्टि जीव अपने पुत्रादि की शादी करता है, उस प्रसंग से गणेश आदि की स्थापना एवं होमादि क्रियाएं भी करता है, पर वह उन्हें मोक्ष-मार्ग नहीं मानता। वह उन्हें संसार का मार्ग ही मानता है। अतः वह ऐसा करता हुआ मिथ्यात्व का सेवन कर रहा है, ऐसा नहीं कहा जा सकता। व्यक्ति क्रिया क्या करता है, यह महत्वपूर्ण नहीं है। महत्वपूर्ण यह है कि उसकी मान्यता क्या है, उसका श्रद्धान क्या है ? यदि उसकी मान्यता-श्रद्धान स्पष्ट है तो उसे सम्यक ही माना जायेगा। संसार के मार्ग को संसार का मार्ग मानता है तो वह सत्य है, सच्चाई है। उसे मिथ्यात्व की संज्ञा नहीं दी जा सकती।

## पुण्य-पाप क्रिया से नहीं, भावों से

**ए**क प्रश्न- पानी की एक बूंद में असंख्य जीव होते हैं, वैसी स्थिति में किसी को पानी पिलाने से पुण्य कैसे हो सकता है ? यदि पुण्य होगा तो क्या इसे पापानुबन्धी पुण्य मानना चाहिये ?

उत्तर- पुण्य और पाप का सम्बन्ध क्रिया से नहीं भावना से है। एक व्यक्ति किसी का मर्डर करने के लिए शस्त्र उठाता है, दूसरा व्यक्ति किसी के रक्षार्थ अथवा आत्म-रक्षार्थ शस्त्र उठाता है। शस्त्र उठाने की क्रिया समान होते हुए भी भावना के अन्तर से प्रथम पुरुष पाप का व दूसरा पुरुष पुण्य का उपार्जन करने वाला होता है। इसे और स्पष्ट समझने के लिए एक उदाहरण लें - साधु को गोचरी बहराने से पुण्य होता है या पाप ? उत्तर- पुण्य बँधता है। नागश्री ब्राह्मणी ने धर्मरुचि अणगार को कड़वे तुम्बे से बनी भोज्य सामग्री बहराई थी। क्या उसे पुण्य हुआ ? नहीं, उसकी भावना शुद्ध नहीं थी। उसने भावना से दान नहीं दिया था। उसे पुण्य नहीं होगा बल्कि जहरीला आहार बहराने से वह पाप कर्म का उपार्जन करने वाली बनी एवं वर्तमान में निन्दा का भाजन बनी। इससे स्पष्ट है कि भावना मुख्य है। साधु को दान देना एकान्त पुण्य कारक नहीं होता। इसी न्याय से किसी की रक्षा के लिए उसे पानी पिलाने में पुण्य नहीं होता या पापानुबन्धी पुण्य होता है, ऐसा नहीं कहा जा सकता। पानी पिलाने वाले की भावना पानी के जीवों का उपमर्दन करने की नहीं है। यदि उसके भाव अप्काय जीवों की घात के हों तो उसे पुण्य नहीं बँध सकता। वह पाप कर्म उपार्जक होगा। जिसकी मुख्यता होती है उसी की प्रधानता से कर्म बन्ध निष्पन्न होता है। साधुओं के दर्शन पुण्य कारक हैं किन्तु आने-जाने की क्रिया में जीव हिंसा को नकारा नहीं जा सकता। उसके होने पर भी साधु के दर्शन को पुण्यकारक माना गया है। यदि भावना-श्रद्धा पूर्वक करता है तो, क्योंकि उस समय भावना में प्रधानता संत दर्शन की है, शुभ है। अतः शुभस्य पुण्यम् के अनुसार वह पुण्य कर्म उपार्जक माना जाता है।

## प्रश्न शृंखला

एक प्रश्न- बहुत से लोग भयाक्रान्त रहते हैं। छोटी-छोटी बातें उन्हें भयभीत बना देती हैं, इसका कारण क्या ?

जो मानसिक कल्पनाओं का वितान बनाया जाता है, वही भय का कारण है। यदि मानस-तन्त्र कल्पनाओं का जाल नहीं बुने तो व्यक्ति के भयभीत होने की संभावनाएं अत्यन्त क्षीण हो जाती हैं।

एक प्रश्न और- निर्जरा तो अनशनादि तप से ही होती है। फिर अज्ञानी के मास क्षमण तप को धर्म की सोलहवीं कला को भी प्राप्त न होना बताया है। कैसे ? उत्तर-सम्यग्दृष्टि भाव समन्वित तप ही निर्जरा कारक होता है। उसी निर्जरा को सकाम माना है। सकाम-यानी अर्थ को सिद्ध कराने वाली। तप तो निर्जरा कारक है किन्तु उससे भी बढ़कर समभाव है, वह प्रधान है। उससे मोक्ष निश्चित है। जैसा कि कहा गया है-

**‘समभावे भवि अप्पा लहइ मोक्खो न संदेहो’** समभाव से भावित आत्मा मोक्ष को प्राप्त होता है, इसमें संदेह नहीं।

एक प्रश्न यह भी उठता है कि जहां चक्षु-इन्द्रिय पोषक फोटो आदि लगे हुए हों, मन उन्हें देख-देख फिसलता रहता हो, वहां सामायिक करना क्या ? उक्त प्रकार फोटो धर्म स्थान में होने चाहिये ?

सामायिक के लिए द्रव्य-क्षेत्र, काल-भाव की शुद्धि का कथन ग्रन्थकारों ने किया है। उसके अनुसार क्षेत्र शुद्धि होना भी जरूरी है। धर्मस्थान में फोटो तो क्या कुछ लिखा हुआ भी नहीं होना चाहिये, ताकि व्यक्ति का मन विचलित हो ही नहीं। देखने और पढ़ने के बजाय वह आत्मनिष्ठ बन सके।

प्रश्न-अपने कर्तव्य की पहचान कैसे करें व उसका निर्वहन कैसे करें ? उत्तर- कर्तव्य का अर्थ होता करणीय। व्यक्ति जिस स्टेज-पोस्ट पर होता है, उसके अनुसार उसका कर्तव्य भी विस्तार पाता जाता है। कर्तव्य पालन में निःस्वार्थ भाव की प्रधानता होनी चाहिये। हानि-लाभ की चिन्ता किये बिना

## तथ्य को यथार्थ रूप दिया जाय

**आ**चार्य देवेन्द्र मुनि शास्त्री ने मुनि अवस्था व उपाचार्य एवं आचार्य पद पर रहते हुए अनेक ग्रन्थों की रचना की, करवायी। अनेक ग्रन्थों पर उन्होंने प्रस्तावनाएं भी लिखीं। ऐतिहासिक पृष्ठों को भी उन्होंने स्पर्श किया। लेकिन लगता है कि ऐतिहासिक तथ्यों की गवेषणा में कहीं कुछ कमी रह गई है अथवा सत्य तथ्य को साम्प्रदायिक व्यामोह के कारण स्वीकार करने का साहस न कर पाये हों। यह भी हो सकता है कि तथ्य से पूर्ण अवगत न रहे हों। जो भी हो, कुछ भी हो, तथ्यों को उकेरने से पूर्व उनकी सत्यता गवेषणीय होती है। उसकी सम्यक गवेषणा होनी चाहिये, अन्यथा जो लेखन हो जाता है, लोग उसी का अनुवर्तन करने लग जाते हैं। परिणाम स्वरूप सत्य बहुत पीछे छूट जाता है। उन्हीं के नाम से प्रकाशित ‘जैन जगत के ज्योतिर्धर आचार्य’ ग्रन्थ का पारायण कर रहा था। कई आचार्यों की जीवन झरमर से साक्षात्कार कर पाया। आचार्य पूज्य श्री श्रीलालजी म सा के संदर्भ में उन्होंने जो लिखा, वह सत्य से परे लगा। मेरी जानकारी के अनुसार वे कमरे की खिड़की से नीचे कूदे थे। दीक्षा के लिए माता-पिता ने समझाया, ऐसा लिखा गया है, पर उनके पिता का वियोग पहले ही हो चुका था। उन्होंने दीक्षा भी स्वयं ली थी, जबकि ग्रन्थ में श्री किशनलालजी म. सा. के पास लेने का उल्लेख है। इसी प्रकार आचार्य श्री गणेशलालजी म.सा. के जीवनवृत्त में तथ्य को तथ्य रूप में प्रस्तुत नहीं किया गया है। ग्रन्थ में लिखा गया है कि- **“आपने कुछ मतभेद होने से श्रमण संघ से त्याग पत्र दिया और उपाचार्य पद से भी,”** जबकि वस्तु सत्य कुछ और है। उसे लिखने का साहस शायद न हो पाया हो। चरित्र हीनता की स्थितियों पर उन्होंने आचार्य आत्माराम जी म. सा. व संघ के आग्रह पर व्यवस्था दी थी जिसे सभी ने स्वीकार किया, किन्तु क्रियान्वयन नहीं किया गया। तब उन्होंने अपना मत स्पष्ट किया कि जो उनके द्वारा प्रदत्त व्यवस्था को स्वीकार करेगा उसके साथ ही साधु योग्य साम्भोगिक सम्बन्ध रखा जायेगा, अन्य के साथ नहीं। उन्होंने उपाचार्य पद से त्याग-पत्र नहीं दिया। इस विषय में विशेष जानकारी उनके जीवन चरित्र से प्राप्त हो सकती है। आचार्य श्री गणेशलाल जी म.सा. के आचार्य पद की जो तिथि व वर्ष लिखा है वह भी सही नहीं है। संवत् 2000 आषाढ शुक्ल अष्टमी को वे आचार्य पद पर प्रतिष्ठित हुए थे।

## संसारी जीव गटर का रूप

**क्रो**ध, मान, माया, लोभ, राग-द्वेष, ईर्ष्या-डाह, आकांक्षा, स्पृहा आदि अनेक दुर्गणों के समूह जिसमें हों, उसे गटरवत् आत्मा कहना अयुक्त नहीं है। गटर में अनेक प्रकार की गंदगी घुली-मिली हुई होती है। आत्मा में भी कषाय-इच्छा, अभिलाषा आदि उपर्युक्त अनेक विध गंदगियां भरी हैं। अतः संसारी जीव का स्वरूप गटरवत् कहा जा सकता है। दूसरी दृष्टि से शरीर में रहे हुए मल-मूत्र आदि अशौच पदार्थ उसी के आधार से रहे हुए हैं, वे गंदगी का द्रव्य रूप हैं, ऐसा कह सकते हैं। गटर के गंदे पानी का भी परिशोधन किया जा सकता है। श्रीमद् ज्ञाना धर्म कथांग सूत्र में जिनशत्रु राजा व सुबुद्धि प्रधान के प्रसंग से बताया गया है कि सुबुद्धि प्रधान ने अपने बौद्धिक कौशल से गटर के भयंकर दुर्गन्ध वाले अशौच जल का क्षार पदार्थों आदि के माध्यम से शोधन करके उसे पेय जल के रूप में तैयार किया था व उस जल को राजा के पीने हेतु भी प्रस्तुत किया गया। राजा उस सुस्वादु जलपान से अत्यन्त प्रमुदित व विस्मित भी हुए कि आज यह पानी कहां से लाया गया है? कहने का आशय अशौच जल का परिशोधन करके उसे पेय जल के रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है तो गटरवत् आत्मा का परिशोधन क्यों नहीं किया जा सकता? अवश्य किया जा सकता है। भगवान महावीर की व अन्यान्य सिद्ध भगवन्तों की आत्माएं भी पहले गटरवत् रही हैं। भगवान महावीर के त्रिपृष्ठ वासुदेव के भव में शय्यापालक के कानों में गरमा-गरम शीशा डलवाया। उनका वह रौद्र रूप गटर की गंदगी से क्या कम था? लेकिन उनको जब समझ पड़ी उन्होंने आत्मा का परिशोधन प्रारम्भ किया। कानों में कीलें गाड़ने वाले पर भी जिन्होंने आक्रोश नहीं किया, समभाव रखा। यह परिशोधन का ही परिणाम था। उसी से वे आत्मा को परमात्म पद तक पहुंचा पाए। प्रत्येक व्यक्ति को प्रेरणा लेनी चाहिये कि वह भी गटरवत् अपनी आत्मा को परमात्मा बना सकता है। आत्मा से परमात्मा बनना उसी के वश की बात है।

## साधु तेरी क्या पहचान?

**ए**क प्रश्न- गृहस्थावस्था में रहते हुए मोक्ष मार्ग की आराधना कैसे की जा सकती है?

आभूषणों की पेटी में आभूषण रखने के पूर्व एक वस्त्र बिछा कर उसके बाद उसमें आभूषण रखे जाते हैं। जैसे पेटी और आभूषणों के बीच वस्त्र रखा जाता है, वैसे सांसारिक रिश्तों और स्वयं के बीच भावात्मक एक पट रखा जाय। जो परिवार में रहते हुए भी परिवार से जुड़ाव पैदा न कर सके।

प्रश्न दूसरा-सुसाधु की पहचान क्या है? किसे समझें कि यह सुसाधु है?

**ईर्या-भाषा-एषणा ओलख जो आचार। गुणवन्त साधु देखने बंद-जो बारम्बार ।।**

इस दोहे से संक्षिप्त में सुसाधु के स्वरूप का कथन किया गया है। इसे शब्दों में यदि कहा जाय तो साधु में अहिंसा के भाव कितने प्रगाढ़ हैं, यह देखना चाहिये। अहिंसा धर्म का प्राण है। जैसे प्राणों के बिना शरीर टिकता नहीं है, वैसे ही अहिंसा के बिना धर्म नहीं टिकता। धर्म को टिकाने के लिए अहिंसा अनिवार्य तत्व है। अहिंसा का व्यवहारिक रूप है मैत्री भाव। जैसा कि 'मेरी भावना' के पद्यों में कहा गया है-

**'मैत्री भाव जगत में मेरा, सब जीवों से नित्य रहे'**

जगत के समस्त प्राणियों के प्रति मैत्री भाव रहे। जगत के जीवों को छह भागों में विभाजित किया गया है-पृथ्वीकाय, अपकाय, तेजस्काय, वायुकाय, वनस्पतिकाय एवं त्रसकाय। इन छः काय जीवों का न स्वयं हनन करे न करवाए। यदि कोई इन जीवों के प्राणों का हनन करता हो तो उसके प्रति प्रमोद भाव भी न होना। इस प्रकार अहिंसा का रूप जहां जितना सघन नजर आए उसके आधार पर सुसाधु की पहचान की जा सकती है। एक पंक्ति में यदि परिभाषित करना हो तो कहना चाहिये कि जिसे किसी से कोई शिकायत नहीं होती, वह सुसाधु है।



## धर्म से क्या लाभ?

**वि**ना प्रयोजन के मंद व्यक्ति की प्रवृत्ति नहीं होती। जहां लाभ दृष्टिगत होता है, उसमें सहज स्वतः स्फूर्त प्रवृत्ति हो जाया करती है। व्यापारी व्यापार करता है, उसके लिए प्लान भी बनाता है। हर साल-दो साल बाद वह नया-नया प्रोजेक्ट चालू करने के पक्ष में रहता है। उसके अनुसार उसे लाभ होता रहता है तो वह उस दिशा में बढ़ता रहता है। धर्म से जीव को क्या लाभ होगा, यह यदि वह स्पष्ट अनुभव करने लगे तो धर्म में उसकी स्वतः स्फूर्त गति हो सकती है। क्या धर्म का प्रत्यक्ष लाभ बताया जा सकता है? बेशक, धर्म से होने वाले लाभ को जाना जा सकता है। धन, दौलत, वैभव, यश आदि की जो प्यास व्यक्ति को लगी रहती है, उसका दूर हो जाना धर्म का स्पष्ट-प्रत्यक्ष लाभ है। आत्म-विश्वास पूर्वक कठिनाई के क्षणों में स्वयं को सुस्थिर बनाये रखना धर्म का ही महात्म्य है। धर्म से अन्तर में एक ऐसा रसायन तैयार हो जाता है जो व्यक्ति को कठिनाई के समय भी विचलित नहीं होने देता। वह कठिनाई से घबराकर भागता नहीं है। उसका मुकाबला करने हेतु उपस्थित रह सकता है। इसका मतलब यह भी नहीं है कि **'आ बैल मुझे मार'** की कहावत को चरितार्थ करना हो। पर यदि कोई आपदा आ जाय, तो वह उसे सहज रूप से झेलने को तत्पर रहता है। उसके अन्तर से तृष्णा शांत हो जाती है। संसार के ताप से वह तप्त नहीं होता। कषाय उसके उदीप्त नहीं होते, वे उपशमित बने रहते हैं। पांच इन्द्रियों के विषय, जो मन को अपनी तरफ आकर्षित करते रहते हैं लेकिन धर्म रूपी रसायन का सेवन कर लेने पर मन उनकी ओर अग्रसर नहीं होता। महासंत स्थुलभद्र का उदाहरण हमारे सामने है, जो किसी समय **'कोशा'** गणिका के यहां बारह वर्ष रहे थे पर धर्म रसायन के सेवन से उनका मन इतना तृप्त हो गया कि मुनि अवस्था में वे चार माह उसकी रंगशाला में रहे। कोशा ने पूरा जोर भी लगाया कि वे पुनः उसे प्राप्त हो जायें किन्तु मुनि स्थुलभद्र तो मानो प्रतिमा बन गये। उन पर उसके हाव-भाव का कोई असर नहीं हो पाया। पिक्चर हॉल में पर्दे पर प्रोजेक्टर से बहुत सारे चित्र आते रहते हैं, पर जैसे ही प्रोजेक्टर बन्द होता है, पर्दा चित्रों से रिक्त हो जाता है। उस पर चित्र का कोई चिन्ह ही नहीं बचता। वैसे ही स्थुलभद्र का मन रूपी पर्दा चित्रों से शून्य रहा। यह धर्म का प्रत्यक्ष प्रभाव है।

## साध-ना

**सा**धना शब्द का निर्युक्त करें तो साध+ना ऐसे भी पढ़ा जा सकता है। साध यानी इच्छा-अभिलाषा। ना यानी नहीं। इस प्रकार से साधना का अर्थ घटित होता है जिसमें स्पृहा न हो, वह साधना। जिसमें यश-नामादि की चाह न हो, वह साधना। जिसमें किसी के प्रति अपकार करने की इच्छा न हो वह साधना। जिसमें अपकारी के प्रति भी द्वेष के भाव न बने, वह साधना। जिसमें किसी के सहयोग की वांछा ही न हो वह साधना। जिसमें अपना वर्चस्व स्थापित करने की तमन्ना न हो, वह साधना। जिसमें किसी के प्रति कोई शिकायत न हो, वह साधना। इस प्रकार से जो स्वयं को साध ले, उसके जीवन में दुःख, द्वन्द्व की स्थिति निर्मित होना संभव ही नहीं है। ऐसा साधनामय जीवन व्यक्ति को-साधक को अनन्यरामी बनाता है। वह अपने में तृप्त रहता है। बाह्य तृष्णा जिसे स्पर्श भी नहीं कर पाती। इसलिए ऐसे साधक की लेश्याएं उज्वल-उज्वलतर होती जाती हैं। एक वर्षावधि में उसकी लेश्याएं अनुत्तर विमान के देवों की लेश्याओं से भी विशुद्ध हो जाती हैं। विशुद्ध लेश्या वाला वह अत्यन्त प्रसन्न चित्त वाला बन जाता है। उसकी भावना पवित्र हो जाती है। उसमें मैत्री भाव का प्राबल्य बन जायेगा। अपने-पराये का भेद तिरोहित-समाप्त हो जायेगा। न कोई अपना है न कोई पराया। जो है, बस है। इस प्रकार की भावना से साधक अध्यात्म की ऊँचाइयों को स्पर्श करने लगेगा। साथ ही साथ कर्मों की विपुल निर्जरा करने लगेगा। एक समय वह भी आयेगा कि वह साधक घन-घाती कर्मों का क्षयक बन कर सर्वज्ञ बन जायेगा एवं शेष कर्मों की आत्यन्तिक निर्जरा से मुक्ति को प्राप्त हो जायेगा। जो कार्य चाहने से नहीं बनता वह अनचाहे बन जाता है। अनचाहे का अर्थ यह नहीं है कि सहसा बन जाता है। सहज पुरुषार्थ साधक का बना रहना जरूरी है, सहजता से सिद्धि मिलती है। सहजता स्वाभाविक होती है। उसमें दिखावा-प्रदर्शन के भाव नहीं होते। प्रदर्शन के भाव आते ही मूल्य घट जाता है, वह साध में चला जाता है **'ना'** छूट जाता है। **'ना'** छूटे नहीं यानी साध-अपेक्षा-ना नहीं।

## सुख का स्रोत तुझमें ही

**सु**ख का स्रोत तुम्हारे में ही है। उस स्रोत पर आवरण आ जाने से अथवा कुछ रुकावट आ जाने से सुख का अहसास जीवात्मा कर नहीं पाता है। कुएं में जल, शिराओं से आता रहता है। यदि वे शिराएं किसी से अवरुद्ध हो जायें तो पानी का प्रवाह रुक जाता है। उन स्रोतों को छोटे-छोटे पत्थर भी बाधित कर सकते हैं। वैसे ही हमारे भीतर के सुख स्रोतों को काम, क्रोध, मद, मत्सर रूपी पत्थर-कंकर बाधित कर देते हैं। जब तक वे पड़े रहेंगे हमारा सुख बाधित होता रहेगा। काम यानी चाह। जब किसी पदार्थ, व्यक्ति आदि की चाह बन जाती है, वह प्राप्त हो नहीं पाए तो क्रोध पैदा होता है। क्रोध को हवा देने के लिए मद सामने आ जाता है, जिससे हम आक्रोशित हो जाते हैं। मद सोचने-समझने की आँख बन्द कर देता है। परिणामस्वरूप जो हमारा अहितैषी नहीं होता, उसे भी हम अहितैषी मानने लगते हैं। जिससे उसके प्रति मत्सर भाव पैदा होने लगता है। इस प्रकार हम इनके वशवर्ती बन कर स्वयं ही अपने सुख से वंचित हो जाते हैं। यदि अपने सुख का हम अनुभव करना चाहते हैं तो कुछ बिन्दुओं पर हमें अमल करना होगा। वे इस प्रकार हैं-

1. मेरे सुख का मैं ही स्वामी हूँ। 2. दुःख की सृष्टि भी मैं ही करने वाला हूँ। 3. अन्य कोई मुझे दुःखी नहीं कर सकता। 4. कोई मेरे विषय में कुछ भी सोचे, कुछ भी कहे, उससे मेरा कुछ भी बिगड़ने वाला नहीं है। 5. मैं किसी के प्रति कोई भी अशुभ-अमंगल विचार अपने में पैदा नहीं होने दूंगा। 6. समग्र आत्माओं में मुझे अपनी झलक नजर आए। 7. जो है उनमें 'मैं' मौजूद हूँ। 8. उनका अपलाप मेरा अपलाप है। 9. उनका अपमान मेरा ही अपमान है। 10. उनका हनन मेरा हनन है। 11. मैं समग्र रूप से अपने सुख का भोग तभी कर सकता हूँ जब अन्य के सुख में खलल न डालूँ। 12. सुखी रहें सब जीव जगत के यानी जगत के समस्त जीव सुखी रहें। इस प्रकार की भावना से जीव स्वयं के सुख-स्रोतों को सदा स्रावित रखता है। वे कभी अवरुद्ध नहीं होते।

## मार्ग दर्शन का महत्व

**ऋ**षभदेव भगवान के युग में लोग भिक्षाविधि से अनभिज्ञ थे, परिणामस्वरूप भगवान को संवत्सर पर्यन्त शुद्ध भिक्षा प्राप्त नहीं हो पाई। चार हजार साधु शुद्ध भिक्षाविधि से अनभिज्ञ होने से शुद्ध संयमी जीवन में स्थिर नहीं रह सके। कुछ ही दिनों में उनका धैर्य जाता रहा। बिना मार्ग दर्शन के जिनको जैसा मार्ग समझ में आया, अपना लिया। इससे एक बात स्पष्ट होती है कि जब तक साधु गीतार्थ न बन जाय तब तक उसे मार्गदर्शन प्राप्त करते रहना चाहिये। कोई दिशा बोध दे तो उसे विनम्र भाव से स्वीकार करना चाहिये अन्यथा दिशामूढ़ हो जाना असंभव नहीं है।

संयमी जीवन का अर्थ केवल पोशाक परिवर्तन नहीं है, अपितु संयम भाव का अन्तर में प्रकटीकरण होने के साथ-साथ संयमी मर्यादाओं का सम्यक् अनुपालन करना है। संयमी क्रियाओं का अनुपालन करते रहने से साधक जागृत रहता है। उसे स्मृत रहता है कि वह गेही (गृहस्थ) नहीं, संयत है। गीतार्थ मुनियों को भी समय-समय पर आचार्य-उपाध्यायादि का सान्निध्य प्राप्त करना उचित रहता है। उससे ज्ञान-दर्शन एवं चारित्र की पर्यायों में उज्वलता-विशुद्धता आने का प्रसंग रहता है अन्यथा कई बार गीतार्थ मुनि का भी भटकाव हो जाता है। और तो क्या एका चरम शरीरी रथनेमि का भी विचलन हो गया था। सिद्धसेन जैसे धुरन्धर मुनिपुंगव भी लोकैषणा के जाल में उलझ गये थे। इसका कारण है हमारा ज्ञान, चारित्र आदि क्षयोपशमिक है। क्षयोपशम को तदनुरूप साधन मिलते रहने से उसमें वृद्धि होती रहती है अन्यथा वह भी मंद पड़ जाता है यथा - अग्नि। श्रीज्ञाताधर्मकथा सूत्र में नंदमणियार के विषय में बताया गया है कि लम्बे समय से संयत वर्ग का संयोग नहीं मिलने से वह व्रतों में शिथिल हो गया था। शिथिलता आसानी से प्रविष्ट हो जाती है, पर उसे दूर करना, उसे हटाना उतना आसान नहीं है। अतः मुनि को चाहिये कि वह निरन्तर गीतार्थ के मार्गदर्शन के अनुसार वर्तन करता हुआ जागरूक रहे।

## देखो संयम-रत्न खो न जाय

**सा**धुओं के लिए बाईस परिषदों में क्षुधा एवं पिपासा परिषद को प्राथमिकता दी गई है। भूख और प्यास से व्यक्ति जल्दी विचलित हो जाता है। उसका मन खिन्न व संक्लेशित हो जाता है। ऐसे साधकों के लिए ऋषभदेव भगवान का पवित्र जीवन आदर्श रूप है, जिन्होंने निरन्तर एक वर्ष तक भूख-प्यास को सहन किया। इतने लम्बे समय तक भी शुद्ध भिक्षा न मिलने से मानसिक रूप से क्लेशित नहीं हुए। वस्तुतः दृढ़ता ही अन्तराय कर्मों को हटाने में समर्थ होती है। यदि मन कमजोर करके शुद्ध भिक्षा के अभाव में जैसा मिले वैसा ही ग्रहण करने लगे तो वह अन्तराय कर्म की बेड़ियों को कैसे तोड़ पायेगा? वह अपनी इस कमजोर मानसिकता से शिथिल बनी अन्तराय कर्म की बेड़ियों को और सघन-मजबूत बना लेता है। यदि साधक का मन भूख-प्यासादि के कारण संयम मार्ग से विचलित होने लगे तो उसे परिषद-अध्ययन का अध्ययन करते हुए उस पर अनुप्रेक्षा करनी चाहिए। उसे विचार करना चाहिये कि यह संयम रत्न दुर्लभ है। महान पुण्य योग एवं क्षयोपशम की महत्ता से प्राप्त हो गया है। उसे सामान्य भूख-प्यास के कष्टों से घबरा कर हाथ से निकलने नहीं देना है। कैसी भी कठिनाई आए हर हालत में इस प्राप्त संयम-रत्न की रक्षा करनी चाहिये।

कभी-कभी साधुओं की चर्चाएं गृहस्थादि वर्गों से सुनी जाती हैं कि आहार के लिए कैसे-कैसे वे इंगित-इशारे करते हैं। कई-कई तो स्पष्ट ही कह देते हैं कि हमको अमुक-अमुक पदार्थ चाहिये। कई प्रकारान्तर से कहते हैं। कभी चाय के विषय में सुनते हैं कि साधु उसके लिए तरस जाता है, वह मन कमजोर बना लेता है। परिणामस्वरूप उसका संयम तड़प जाता है, लेकिन हाय रे चाय की चुस्की! तुमने संयम की तड़पन को नहीं देखा! उसे अनदेखा किया। कुछ समय-दिनों-महीनों के बाद तुम निश्चिन्त हो गये कि अब संयम तड़प नहीं रहा है। पर, तुम उसे देखो तो सही कि उसमें जीवन है भी या नहीं? वह जिन्दा है भी या नहीं?

साधक! क्या चाय की चुस्की या भूख-प्यास के बदले संयम की बलि दोगे?

## उत्तमता-अवगत न हो

**म**नुष्य सृष्टि में सबसे उत्तम प्राणी माना जाता है, पर जब मनुष्य को देखते हैं तो लगता नहीं कि मनुष्य उत्तम प्राणी है। उसकी तनाव पूर्ण जिंदगी ही दर्शाती है कि वह सुखी नहीं है। इस पर विचार करने से लगता है कि उसे ऊँचा स्थान तो मिल गया पर वह अपने विचारों को उन्नत नहीं बना सका। जैसा ऊँचा स्थान मिला वैसा ही यदि वह वैचारिक दृष्टि से उन्नत होता तो वह सुखमय जीवन जी सकता था। गिद्ध पक्षी आकाश में ऊँचाई पर चले जाने पर भी उसकी दृष्टि जैसे नीचे जमीन पर पड़े मांस के लोथड़े पर होती है, वैसे ही मनुष्य को ऊँचा स्थान मिल जाने पर भी वह वैचारिक दृष्टि से नीचे की ओर ही देखता रहता है। अतः दुःखी है, तनाव ग्रस्त है। वह यदि अपनी विचारधारा को उन्नत बना ले तो वस्तुतः अपनी उत्तमता को बरकरार रख सकता है।

उत्तमता के लिए जरूरी है कि वह ईमान की राह पर चले, ताकि मानवता की भूमिका का वह सम्यक परिपालन कर सके। वर्तमान मानवीय जीवन में स्वार्थ-परता संक्रांत होती हुई दृष्टिगत होती है। स्वार्थ-परता से व्यक्ति की सोच पूर्ण मानवता-परक रह पाना कठिन है। ऊँचाई के लिए स्वार्थ त्याग का भाव विकसित करना होगा। स्वार्थ के स्थान पर उसे समुदाय का हित सोचना होगा। समुदाय-परक दृष्टि होते ही उसमें उदारता का भाव संचरित होने लगेगा।

उत्तमता जन्म से नहीं कर्म एवं गुणों से होती है। मनुष्य जन्म को जो उत्तम कहा गया है, वह भी गुण कर्म के आधार से कहा गया है। मनुष्य तन में जीव वह पुरुषार्थ कर सकता है जो अन्य जन्मों में संभव नहीं है। वह पुरुषार्थ अपवर्ग के प्रति है। अपवर्ग के प्रति पुरुषार्थ का अर्थ है- आत्म गुणों का संवर्धन, श्रेष्ठ गुणों को आत्मसात करना, अपने में रही हुई शक्तियों को प्रकट करना। इसमें स्व-परहित समाविष्ट है।

## अवरोधों को दूर करती-आस्था

व्यक्ति पर श्रद्धा-आस्था-विश्वास हो तो उसके द्वारा कही गई बात तत्काल हृदयंगम हो जायेगी अन्यथा वह बात चाहे कितनी भी उपयुक्त हो, स्वीकार्य नहीं होती। गोशालक ने भगवान महावीर से जो जानना चाहा, भगवान ने बताया, वह उस पर विश्वास नहीं कर पाया। जब-जब भी भगवान से उसने जो जाना वह उसे स्वीकार नहीं पाता बल्कि वह उसे असिद्ध करने की फिराक में रहता। उसे झुठलाने के लिए उपक्रम करता रहता। इससे विपरीत इन्द्रभूति गौतम को भगवान महावीर ने जो कहा, वह उनके हृदयंगम होता हुआ चला गया। उनके अन्तर से वही ध्वनि रहती कि

**‘तमेव सच्चं निस्संकं जं जिणेहिं पवेइयं’**

वह सत्य है-शंकारहित है, जो जिनेश्वर देव ने कहा है। सत्य है - शंकारहित है, अर्थात् उस पर कोई संशय ही नहीं है। संशय पैदा होने का अर्थ है आस्था-श्रद्धा में अन्तर होना।

जो श्रद्धावान-आस्थावान होगा, वही जीवन के अंतरंग रहस्यों को समझने में समर्थ हो सकता है। अन्यथा जीवन के सत्य के निकट पहुंच कर भी वह उससे दूर ही रह जायेगा। गोशालक भगवान के निकट पहुंच कर भी वह कहां उन्हें प्राप्त कर सका? नीतिकारी ने कहा है- **‘विश्वासो फलदायकः’** विश्वास फल देने वाला होता है। उससे जीवन के अंतरंग रहस्य खुलते जाते हैं। कैसे खुले? यह वह जान नहीं पाता। रहस्य खुल गये-खुल जाते हैं, खुलते जाते हैं। जैसे स्वतः संचालित प्लांट, स्विच ऑन होते ही चलने लगता है, वैसे ही आस्था से वे अंतरंग रहस्य खुलते जाते हैं। आस्था, अवरोधों को दूर करती है। श्रद्धा, मंजिल का संधान करती है। विश्वास, जीवन के विष को दूर करता है। आस्था से आत्म-विश्वास जगता है। श्रद्धा से आन्तरिक सौन्दर्य निखरता है। विश्वास श्रद्धेय में विलय कराता है। आस्था से अनन्त की यात्रा विराम पाती है। श्रद्धा से श्रम सार्थक हो जाता है। विश्वास से विमलता प्रकट होती है। कितना कहें, क्या-क्या कहें? आस्था जीवन का अमृत है। श्रद्धा सुधारस और विश्वास-विशुद्ध पाथेय है। जीवन में अन्य सब कुछ खो जाय पर आस्था को स्थिरता देने का पूरा प्रयत्न किया जाय।

## सत्य का स्वभाव कोमल

**स**त्य कोमल होता है। यदि ऊपर से वह कभी कठोर भी लगे तो वह उसका ऊपरी भाग है, वह उसका यथार्थ रूप नहीं है। उसका यथार्थ रूप उसकी आन्तरिकता से अनुभूत हो सकता है। नारियल ऊपर से कठोर होता है, बादाम ऊपर से कठोर होता है, लेकिन अन्दर उनका जो रूप है वह अलग है। समुद्र का आन्तरिक रूप ऊपरी सतह पर नजर नहीं आता। वैसे ही सत्य के संदर्भ में जानना चाहिये। राजीमती के द्वारा रथनेमि को कहे शब्दों की तरह जो ऊपरी सतह पर कठोर लगे पर उसका अंतरंग रूप अत्यन्त कोमल ही होता है। सत्य हृदय से निःसृत होता है। उसमें आत्मीय भाव होता है। उसमें मैत्री की भावना होगी। उसमें समानता का भाव होगा। असमानता- यानी स्वयं को श्रेष्ठ व सामने वाले को हीन समझने जैसी तुच्छता नहीं होगी। जैसे ही स्वयं को उच्च-श्रेष्ठ व अन्य को नीच-हीन देखने की बुद्धि बन जाती है, वैसे ही सत्य का लोप होता हुआ नजर आयेगा। सत्य वहाँ से खिसक जाय तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी। सत्य जो कथन में प्रकट होता है, वह कुछ और है, अन्तरंग में वह भिन्न है। प्रश्न होगा क्या सत्य भी दुरंगा है? नहीं, सत्य दुरंगा नहीं है। हमारी नजर के कारण वह हमें वैसा लग रहा होता है। हमारी दृष्टि यदि सही है तो हम उसे सम्यक् रूप से जान सकेंगे। राजीमती के शब्द कठोर थे पर अन्तर-भाव कोमल थे। शास्त्रकारों ने शब्दों की कठोरता से नहीं, हृदय की कोमलता के कारण ही उसके वचनों को सुभाषित कहा है। राजीमती की शब्दावली से स्पष्ट जाना जा सकता है कि सत्य का स्वरूप क्या है। वह ऊपर से कठोर लगता हुआ भी कठोर होता नहीं है। उसकी तासीर-स्वभाव कोमल ही होता है। यदि मैं कह दूँ कि उसी से वह अब तक जिन्दा है व अनन्त काल तक जिन्दा रहेगा तो यह अति कथन या असंगत कथन नहीं होगा। कठोरता दीर्घकालिक नहीं होती। कठोर पृथ्वी का दीर्घकालित्व भी कठोरता से नहीं अपितु उसके अन्तर की कोमलता से है।



## कर्म, कर्ता का अनुगामी

व्यक्ति परिवार के लिए जो भी सामान्य कर्म करता है, उससे कर्म बन्ध होता है। वह जब उदय भाव को प्राप्त होता है, उसके वेदन का समय जब आता है, उस समय परिवार का कोई भी उसमें सम्मिलित नहीं होता। जीव को अकेले ही उन कर्मों को भोगना पड़ता है। इस संदर्भ में एक आख्याना भी है। उसमें बताया गया है कि एक कारीगर घेवर चुरा कर घर लाता है। उसके आने के पहले घर के लोग बंटवारा करके खा लेते हैं। उसके लिए जो भाग बचाया वह भी मेहमान के आ जाने से उसे खिला दिया गया। चोरी मालूम पड़ने से कारीगर पकड़ा गया। उसे दण्ड भोगना पड़ा। एक भी सदस्य उसमें शामिल नहीं हुआ। जिसने मात्र चुराया था, खाया भी नहीं, फिर भी उसे दण्डित होना पड़ा। इसी प्रकार जीव को भी किये हुए कर्मों का फल भोगना पड़ता है। व्यक्ति को कर्तव्य निर्वाह तक ही स्वयं को जवाबदार समझना चाहिये। जैसे ही अपना कर्तव्य पूरा हो जाय, संसार-व्यापार-परिवार से निवृत्त होने का लक्ष्य रखना चाहिये।

दूसरी बात, ज्ञानी जनों का कहना है कि जो जागृत हो जाते हैं, वे गृहस्थ में रहते हुए भी उसमें तन्मय नहीं होते। वे कर्तव्य का पूरा निर्वाह करते हैं, लेकिन स्वयं को तटस्थ बनाये रखते हैं। अंगुलिमाल को जब महात्मा बुद्ध ने प्रतिबोध दिया, उसने घर परिवार वालों से कृत कर्मों को बांटने के लिए कहा तो कोई तैयार नहीं हुआ। जैन ग्रन्थों में भी काल शोकरिक का देहावसान होने पर उसके पुत्र सुलस को परिजनों ने आनुवांशिक धंधा चलाने को कहा तो उसने अपना अंग भंग कर कहा मेरी पीड़ा को आप सब बांटें। परिजनों ने कहा, इसे कौन बांट सकता है? यह तो तुम्हें ही भोगना पड़ेगा। सुलस ने कहा, मैं यदि हिंसा का कार्य करूंगा तो तज्जन्य कर्मों का भोग तो मुझे ही करना पड़ेगा। सुलस चूंकि अभय कुमार की संगति से तत्त्व बोध पा चुका था। कहने का आशय कर्म करता हुआ व्यक्ति सोचता है मैं सबके लिए कर रहा हूँ, पर फल उसे ही भुगतना पड़ता है।

## मन बुनता है मक्कड़ जाल

मन मकड़ी की तरह ताने-बाने बुनता रहता है। वे ताने-बाने ही उलझ कर जाल का रूप ले लेते हैं। उसमें दूसरा कोई फंसे या न फंसे, मन स्वयं अवश्य फंस जाता है। ताने-बाने का निमित्त कुछ भी हो सकता है। वह निमित्त उसने जैसा जाना हो, माना हो, समझा हो, वैसा ही हो कोई जरूरी नहीं है। अनेक बार वह जैसा सोचता रहा है, वैसा होता नहीं है। प्रायः उससे उल्टा या उससे सम्बन्ध ही न रखता हो, होता है। किन्तु, चूंकि समझ उसकी अपनी है। जैसा उसके समझ में आयेगा वह वैसा ही उसका परिणाम करेगा। उसका परिणाम भी वैसा ही आना है। अधिकांशतः परिणाम अपने पक्ष के विपरीत ही आता है। स्वयं का अहित भी होता है, लेकिन उसका उपाय ही क्या है? दूध पौष्टिक होता है पर पात्र के अभाव में वह हानिकारक भी बन जाता है। सर्प को दूध पिलाने का परिणाम होगा विष-वर्धन। सन्निपातिक अवस्था में दिया गया दूध जानलेवा भी बन सकता है। दोष दूध का नहीं, अवस्था विशेष का है। कहते हैं, मलेरिया ज्वर हो, उस समय गेहूँ की रोटी भी कड़वी लगती है। क्या रोटी कड़वी है? नहीं, लेकिन रोग के कारण वह वैसी लगती है। रोग ठीक होते ही रोटी का मूल स्वाद आने लगेगा। मूल स्वाद रोटी का रोटी में है। रोटी के स्वाद में अन्तर नहीं आया, किन्तु रोग के कारण व्यक्ति की जीभ में स्वाद लेने में अन्तर आ गया। इसी प्रकार व्यक्ति की अपनी सही अथवा गलत समझ के कारण विषय सम्यक् अथवा विपरीत रूप बन जाता है। राम को कोई रावण समझ ले तो उसके समझने से राम, रावण नहीं बन जाते। राम, राम ही रहेंगे, रावण, रावण ही रहेगा। उनमें भेद करने वाली भी व्यक्ति की बुद्धि है। बुद्धि स्वस्थ हो तो तथ्य तत्त्व रूप नजर आयेगा। बुद्धि की विकलता से कुछ अघट-घट जाता है। मन ताने-बाने न बुने इसके लिए एक उपाय है, उसे सत्य की शोध में लगा दें।

## दृष्टि सम्यग्गुणात्मक बने

श्रद्धा-विश्वास को अडोल-अचल-अकम्प रखने के लिए जरूरी है कि दृष्टि गुणमय बने। यह तब संभव है जब प्रत्येक व्यक्ति या वस्तु के गुणों को देखा जाय। अवगुण किसी में भी हो सकता है, उसे देखने का विषय न बनाया जाय। वह यदि दिख भी जाय तो वह उसकी कमजोरी हो सकती है, ऐसा मानना चाहिये। वस्तुस्वरूप की दृष्टि से वह वस्तु-व्यक्ति गुणात्मक ही है। सर्प का जहर मारक ही नहीं होता, जीवन दान देने वाला भी होता है। वस्तुगत विष किसी के लिए विष हो सकता है, पर किसी-किसी के लिए वह उपयोगी भी होता है। अतः वस्तु-स्वरूप का चिन्तन किया जाय। वस्तु के गुण को गुण रूप में देखते रहने की वृत्ति व्यक्ति में अद्भुत परिवर्तन लाती है। उसका आत्म-विश्वास सुदृढ़ हो जाता है। वह किसी भी विषय को सकारात्मक रूप से देखने वाला बन जाता है। उसका विश्वास घना बन जाता है। उसकी दृष्टि पवित्र बन जाती है। उसकी भाषा प्रभावी बन जाती है। उसके द्वारा निःसृत वचन सूक्त बन जाते हैं। प्रत्येक व्यक्ति के लिए वह विश्वसनीय बन जाता है। लोग उस पर निःशंक हो विश्वास करने लगते हैं। वह स्वयं अन्यों पर उतना ही विश्वास करने लगता है। उसे कोई व्यक्ति अविश्वसनीय नहीं लगता। नीति में कहा है, 'श्रद्धामयमयं-पुरुषो' जैसी श्रद्धा होती है, वह वैसा बन जाता है। वह सत्य-तथ्य को देखने वाला होने से सत्य बन जाता है। गुण देखने वाला होने से गुणज्ञ बन जाता है। सब पर विश्वास करने वाला होने से वह स्वयं सबके लिए विश्वसनीय बन जाता है। वस्तुतः गुणमय दृष्टि से गुणात्मक बदलाव आता है। कहा भी तो जाता है-जैसी दृष्टि होती है, जीवन की सृष्टि-रचना भी वैसी होने लगती है। आवश्यक है दृष्टि को सम्यक्-गुणात्मक बनाने की। एक डाकू भी संत बन सकता है। एक हत्यारा भी जीवन-दान देने वाला बन सकता है। किससे ? गुणात्मक दृष्टि से।

## मान्यता की पकड़

जो कार्य प्रवृत्त्यात्मक बन जाता है, जिस कार्य में पुनः पुनः प्रवृत्ति होने लगती है, जो प्रवृत्ति सामान्य रूप ले लेती है, उसके हानि लाभ पर प्रायः विचार गौण हो जाते हैं, उससे पैदा होने वाली संवेदनाएं क्षीण होती हुई विनष्ट हो जाती हैं। जिससे उस-उस प्रकार के कार्य व्यक्ति बेहिचक करने लगता है। हिंसा करना दोष है। झूठ बोलना दोष है। किसी के साथ ठगी करना अनुचित है, दोष है, किन्तु जिनके जीवन में ये बातें रोजमर्रा बन जाती हैं, उनके लिए ये सामान्य बन जाती हैं। उन्हें लगता ही नहीं कि वे कुछ गलत कर रहे हैं। इन्हें वे जिंदगी का एक पार्ट मान लेते हैं। एक प्रकार से ऐसी धारणा बना लेते हैं कि समाज में जीना है तो इनका होना जरूरी है। व्यापार करना है तो झूठ-छल लाजमी है। उसके बिना व्यापार हो नहीं सकता। यद्यपि यह मानना युक्ति संगत नहीं है, उचित भी नहीं है, तथापि ये विचार ऐसे घुल गये होते हैं कि इन्हें जीवन व्यवहार के लिए अनिवार्य मान लिया गया। यदि ये अनिवार्य होते तो इन्हें दोष क्यों माना जाता? वस्तुतः जो इन्हें अनिवार्यता दे रहे हैं, वे भी इन्हें दोष तो मानते ही हैं पर, वे ये मान लेते हैं कि इनके बिना व्यवहार हो नहीं सकता। इसीलिए वे निःसंकोच इनमें प्रवृत्त हो जाते हैं।

जिसे अनिवार्य मान लिया जाता है, उससे हानि होती है या लाभ, यह सोच प्रायः क्षीण हो जाती है। माना यह जाने लगता है कि हानि-लाभ सोचने से क्या होगा? क्या झूठ-छलादि को छोड़ा जा सकता है? यदि नहीं तो फिर सोचने से क्या मतलब? क्यों सोचें? यथार्थ यह है कि हिंसा-झूठ-छलादि जीवन व्यवहार के अनिवार्य अंग नहीं हैं। ये आयातित हैं। व्यक्ति ने इन्हें जीवन व्यवहार में ऐसा रमा लिया है कि वे इन्हें जीवन व्यवहार का अंग ही मानने लग गये। यहीं बहुत बड़ी भूल हो गई है। इसे सुधारना जरूरी है। जो हेय है, जीवनांग नहीं है, उसे वैसा ही समझा जाय।

## कहाँ डाले जाएं बीज ?

**मे**घ उत्तम-मध्यम-अन्त्य सारे क्षेत्रों में बरसता है। उपदेश सभी प्रकार के पात्रों को दिया जाता है, लेकिन बीज वपन करते हुए किसान उत्तम क्षेत्र को देखकर ही डालता है। वह ऊसर भूमि में बीज नहीं डालता। वह जानता है कि ऊसर भूमि में डाला गया बीज व्यर्थ चला जाता है। गृहस्थ, घर गृहस्थी में जहाँ उसे जैसा उचित लगता है अथवा जैसी उसके समक्ष परिस्थिति होती है, उसके अनुसार धन व्यय करता है। वहाँ उसकी लाचारी-विवशता कुछ भी हो सकती है पर पुण्य क्षेत्र में धन खर्च करने के पूर्व उसे अवश्य विचार करना चाहिये कि कहाँ विशेष आवश्यक है? कौन सा क्षेत्र महत्वपूर्ण है? पुण्य की दृष्टि से बहुत सारे क्षेत्र हो सकते हैं पर सब एक समान नहीं होते। कुछ क्षेत्र ऐसे होते हैं जिनका सीधा असर शासन-प्रभावना के रूप में होता है। श्रावक को अनुदार नहीं होना चाहिये लेकिन व्यर्थ अपव्यय से भी उसे बचना चाहिये। जहाँ जरूरत हो, जहाँ सीधा शासन प्रभावना का सम्बन्ध हो, वहाँ उसका दिल, दिलेर बन जाना चाहिये। धन का प्रवाह बेहिचक बह जाना चाहिये। वहाँ उसकी उदारता देखते ही बननी चाहिये। उसका कोई मुकाबला न किया जा सके। पर अधार्मिक कार्यों में उसे रुचिशील नहीं होना चाहिये। यद्यपि धर्म में धन की जरूरत नहीं होती लेकिन धन से धर्म की प्रभावना हो सकती है। धन से लोगों को धर्म के अभिमुख किया जा सकता है। व्यवहार जगत में लोग व्यक्ति के व्यवहार को देखते हैं। वह कितना ज्ञानी है, उसे कितने शास्त्र कण्ठस्थ हैं, इससे व्यवहारिक जगत का कोई लेना-देना नहीं है। यदि स्वधर्म वात्सल्य के रूप में उदार हृदयी हैं तो लोग उसके व्यवहार से अनुप्राणित हो सकते हैं। उसके व्यवहार से वे भी उस धर्म को जीने का मन बना सकते हैं। अतः उत्तम-मध्यम देख कर श्रावक बीज डालने का कार्य करते हैं।

## अध्यवसायिक हवा का प्रभाव

**ह**वा से कचरा साफ भी हो जाता है और भर भी जाता है। जीव के अध्यवसाय अध्यात्म की दृष्टि से हवा है। वे यदि आर्त-आदि भावों से अनुप्राणित होते हैं तो जीवस्थान में कचरा भरता जाता है। जीव राग-द्वेष को बढ़ाता जाता है। उसमें तेरे-मेरे के भाव विकसित होने लगते हैं। इच्छाएं, आकांक्षाएं बढ़ती चली जाती हैं। पदार्थों के प्रति आकर्षण-विकर्षण के भाव अन्तर में व्याप्त होते चले जाते हैं। अनुकूलता-प्रतिकूलता का संवेदन गहरा होता जाता है। अशान्तता-उद्विग्नता-चंचलता, अनिश्चयता की उपस्थिति मुख्य रूप से वहाँ देखी जा सकती है। इससे विपरीत अध्यवसायिक हवा जब धर्म-शुक्लादि से युक्त होती हुई प्रवाहित होती है तो वह जीवात्मा के अन्तर में पड़े हुए कचवड़ को उड़ा-उड़ा कर जीवात्मा को शुद्ध बना देती है। उस समय जीवात्मा में राग-द्वेष के भाव मन्द-मन्दतर बनते जाते हैं। कषाय उपशमित हो जाते हैं। मैत्री भाव विकसित होने लगता है। अपने सदृश जगत की समस्त आत्माएं अनुभूत होने लगती हैं। छल-छद्म के भाव विगलित होते जाते हैं। सरलता-सहजता-समरसता-शान्तता आदि भावों का झरना अन्तर में प्रवाहित होने लगता है। अन्तर का सारा कालुष्य साफ होने लगता है। पारदर्शिता से तत्व का यथार्थ बोध गहरा होने लगता है। कर्म कल्मष दूर हो जीवात्मा शुद्ध-परिशुद्ध बन जाता है। एक समय ऐसा भी आता है जब पूर्ण शुद्ध आत्म द्रव्य प्रकटित हो जाता है। उस शुद्धता में अस्तित्व-ज्ञेयत्व-द्रव्यत्वादि गुणों की अनुभूतियां सघन बन जाती हैं। जीव की यह अवस्था भी अध्यवसाय रूपी हवा से ही संभव होती है।

हवा कभी गर्म तो कभी शीतल हुआ करती है। उसमें कभी सुगन्ध तो कभी दुर्गन्ध प्रवाहित होती रहती है। वैसे ही अध्यवसाय रूपी हवा कभी कर्म बँधाने वाली आर्तादि रूप होती है तो कभी कर्म क्षय कराने वाली शुक्ल रूप होती है। समझदार प्रयत्न यह करते हैं कि कचरा नहीं बढ़े, वह हटे।

## फर्क कोण का

**भोग** की आँख से जब संसार को देखते हैं तो प्रत्येक पदार्थ रसमय प्रतीत होता है। लगता है अनादि से इन पदार्थों का रस लिया जा रहा है, फिर भी इनका रस समाप्त नहीं हुआ। ये रस हीन नहीं हुए। इनका रस ज्यों का त्यों पड़ा हुआ है। अनादि काल से पुरुष, स्त्री के प्रति, स्त्री, पुरुष के प्रति आकर्षित होती रही है। वह आकर्षण वर्तमान में भी विद्यमान है। ऐसा नहीं है कि वह समाप्त हो गया है। खाद्य पदार्थों के प्रति भी आकर्षण कहाँ कम हुआ है, दिनों दिन नित नये आकर्षण पैदा किये जा रहे हैं। इसी प्रकार उपभोग्य वस्त्र-आभूषणों में भी रस कम नहीं पड़ा है। उनमें आकर्षण ज्यों- त्यों बना हुआ है। भोग की आँख संसार में रस देख रही है, जबकि योग की आँख इन्हें रस हीन मान रही है। मान ही नहीं रही है, उसकी अनुभूति भी वैसी है। उसकी मान्यता उपचरित नहीं है। उसने किसी से सुन कर नहीं माना है। उसने स्वयं वैसा अनुभव किया है, उसी के आधार पर उसकी मान्यता बनी है। उसे न स्त्री में रस है न पुरुष में। न भोज्य पदार्थ में कोई रस आता है न कोई उपभोग्य पदार्थों में। यदि कोई पूछे कि किसे सत्य माना जाय? तो किसी एक को सत्य नहीं कहा जा सकता। भोग की आँख का कथन भी असंगत नहीं है और योग की आँख का कथन भी अयथार्थ नहीं है। दोनों ही कथन उन-उनके दृष्टि की अपेक्षा सत्य हैं। जब तक भोग की आँख से व्यक्ति संसार को देखता रहेगा उसे रस ही रस नजर आयेगा। योग की आँख जब प्रकट होती है, तब वह पदार्थ की असलियत को जान लेता है। वह भोग से जर्जरित काया को देखता है। वह जान लेता है कि व्यक्ति ने भोग भोगा या नहीं पर भोग ने व्यक्ति को अवश्य भोग लिया। वस्तुतः व्यक्ति का नजरिया ही प्रमुख है। जो जैसी दृष्टि से देखेगा, उसे दुनिया वैसी ही नजर आयेगी। देखने का ऎंगल-कोण महत्त्वपूर्ण है। भोग की आँख से योग को नहीं तौला जा सकता पर योग ने भोग को भी जाना है, वह उसे तौल सकता है।

## जीवन जीओ उमंग से

**आज** का मार्ग कुछ ऊबड़-खाबड़, उतार-चढ़ाव वाला था। उस मार्ग पर चलते हुए भी जैसे उल्लास था, उत्साह था, रास्ता तय करने का निश्चय था, वैसे ही जीवन में आने वाले उतार-चढ़ाव के समय उल्लास-उत्साह रखना चाहिये। सोचना चाहिये यह मार्ग मुझे तय करना ही है। घाट वाले मार्ग को देख क्या सड़क पर डेरा डाला जा सकता है? नहीं। उसे तो चल कर पार करना ही होता है। वैसे ही जीवन की घाटियों को पार करना ही है। उल्लास-उत्साह का दृढ़ निश्चय होता है तो वे घाटियाँ आसानी से पार हो जाती हैं अन्यथा वे घाटियाँ व्यक्ति को थकाने वाली बन जाती हैं। हर कदम सांस फुलाने वाला हो सकता है। आज तक ऐसा कोई इनसान नजर नहीं आया, जिसने मार्ग की कठिनाइयों के कारण मार्ग पर चलना ही बन्द कर दिया हो। आए दिन एक्सीडेंट होने के बावजूद व्यक्ति यात्राएं करता ही है। वैसे ही सोचना चाहिये कि जीवन का रथ रुक नहीं सकता। इसे तो बढ़ना ही है। उतार-चढ़ाव के बाद समतल मार्ग भी आता है, पर समतल मार्ग तक जाने के लिए इन घाटियों को तो पार करना ही होगा। यदि कोई सोचे कि सड़कें जब पूरी तरह समतल हो जायेंगी, घाटियाँ नहीं रहेंगी, तभी मैं यात्रा करूंगा, तो क्या संभव है? कथमपि नहीं। उसके जीवन रहते वैसा होना नहीं है। एक प्रकार से असंभव है। कदाचित सड़कें समतल हो भी जायं तब भी जीवन की राह कभी पूर्ण समतल नहीं हो सकती। घाटियों का मार्ग तय करते हुए जैसे अपने भीतर शौर्य जगता है, साहस जगता है, हिम्मत बढ़ती है, वैसे ही कठिनाइयों के क्षणों को, जीवन में आने वाली घाटियों को भी अपना साहस जगाने वाली समझना चाहिये। हिम्मत से कदम बढ़ाते रहने से निश्चित मार्ग तय होता है। जीवन एक राह है, उस पर तुझे चलना है। हिम्मत से कदम बढ़ाये जा। न गम हो न अवसाद। बल्कि उत्साह हो-उल्लास हो और हो चलने की उमंग।



## बुरा, न देखें, न सोचें, न करें

**कि**सी के लिए बुरा नहीं सोचना चाहिये। जो बुरा सोचता है, वह अपने ही पैरों पर कुल्हाड़ी चलाने जैसा काम करता है। जैसे किसी के प्रति बुरा सोचना नहीं चाहिये वैसे ही किसी की बुराई देखनी भी नहीं चाहिये। अमुक व्यक्ति में यह बुराई है, अमुक में यह अवगुण है, ऐसा देखना यानी स्वयं को बुराई का सौदागर बनाना है। देखना है तो फूल के खिले हुए रूप को देखो। उसके नीचे रहे हुए कांटों को मत देखो। वस्तु सत्य की दृष्टि से फूल और कांटों को देखना भी पड़े तो उसे तत्त्व दृष्टि से देखा जाय न कि दोष दृष्टि से। बुराई-दोष, दुनिया में भरे होंगे, हम उनके सौदागर क्यों बनें। जिसे आभूषण खरीदने होंगे वह मोची बाड़ा या सब्जी मण्डी में क्यों घूमेगा? हम यदि अच्छाई को चाहने वाले हैं तो बुराई के बाजार में क्यों जायें?

अपने को पवित्र बनाना है, गुणवान बनाना है तो जहाँ भी गुण नजर आए उन्हें आत्मसात करें। हर जगह गुण की शोध-खोज करें। जो जिसे खोजता है, वह उसे पाता भी है। राम को सीता की खोज थी, वह उन्हें मिली। रावण ने भी सीता को खोजा और पाया भी। किन्तु, उसके लिए वह खोज अहितकर रही। हम भी यदि गलत दृष्टि से खोजेंगे तो वह जीवन के लिए हितकर नहीं हो सकती। परदोष-दर्शन का अर्थ है, स्वयं को दोषों से भरना। अहंकारी दृष्टि दूसरों में दोष ढूंढती है, जबकि सात्विक दृष्टि व्यक्ति में रही सज्जनता को देखती है।

दूसरों में दोष ढूंढने के पूर्व अपने को देखो। वस्त्र के नीचे तुम्हारा क्या रूप है? चमड़ी के भीतर कितनी गंदगी भरी हुई है? जिस चमड़ी को देख कर व्यक्ति हर्षित होता है, वह कब विकृत हो जाय कहा नहीं जा सकता। स्वयं को स्वस्थ रखने के लिए जैसे अनुकूल आहार किया जाता है, शरीर को पोषक आहार दिया जाता है, वैसे मन को-आत्मा को पवित्र-स्वस्थ रखने के लिए जरूरी है कि उसके लिए जो पाथेय उचित है, वही उसे दिया जाय, उसे ही ग्रहण किया जाय।

## कैसे इस मन को समझाएं

**म**न के संस्कार-वासनाएं, अतृप्ति अनादि कालीन हैं। उनको अविधि से दमित करने पर वे कभी भी उभर सकती हैं। कभी भी व्यक्ति को आक्रान्त बना सकती हैं। व्यक्ति डाल-डाल चलता है तो उसका मन पात-पात चलता रहता है। वह कब किस समय रंग बदल ले कहा नहीं जा सकता। यदि प्राचीन कहानियों को पढ़ें-सुनें तो ज्ञात होगा कि तलघरों में बन्द रखने पर भी यह मन कैसे-कैसे खेल खेलता रहा है। इसकी समीक्षा करना बहुत जटिल है। साधक गुफा में बैठा साधना कर रहा होता है, लेकिन ऐसा प्रसंग बनता है कि मन काम भोगों के लिए लालायित हो जाता है। कई उदाहरण मिलते हैं कि साधक ध्यान में खड़ा है, पर मन की गति उसे नैरयिक ले जाने वाली बन गई। इसलिए कभी-कभी साधक बोल उठता है, **'मना तोहे केहि विधि कर समझाऊं'** अर्थात् हे मन! तुझे किस विधि से समझाऊं? सभी की विधियां एक समान नहीं होतीं। कोई मन प्रेम से समझता है तो कोई-कोई झटका खाकर समझता है। कई बार मनोगत वासनाएं ऐसी छिपी रहती हैं जैसे मलेरिया के जर्मस तिल्ली (स्प्लीन) के पीछे छिपकर बने रहते हैं। जैसे ही कोई प्रसंग आता है, वे वासनाएं भड़क जाती हैं। उस समय साधक बेबस-निरीह हो जाता है। वह जब तक संभले, खेत उजड़ जाता है। कुछ साधक फिसलते-फिसलते स्वयं का बचाव कर पाते हैं। वासनाएं भिन्न-भिन्न प्रकार की होती हैं। कभी वह काम के रूप में उभरती हैं तो कभी कामना के रूप में। कभी अहंकार का रूप धारण करती हैं तो कहीं दीन भी बन जाती हैं। कभी पद-प्रतिष्ठा, मान-सम्मान के रूप में वह वासना उभरती हैं तो कभी नकारात्मक भाव लिये हुए होती हैं। इसलिए मन की गति को, मन के रूप को समझना कठिन हो जाता है। फिर भी असंभव नहीं है। मन की कुटेव को भी समझने वालों ने समझा है। उसे शोधित किया है, उससे पार पाए हैं। भगवान महावीर ने साधकों को संकेत किया, **'वरं मे अप्पा दंतो संजमेण तवेण य'** संयम और तप से उसे शोधित करो। वही शोधन का श्रेष्ठ मार्ग है।

## जीवन के दो तट

हमारे जीवन के दो तट हैं। व्यष्टि व समष्टि। इन दोनों तटों को सुरक्षित रखना होता है। तट सुरक्षित तो जीवन धारा सुरक्षित। इसे थोड़ा स्पष्ट कर देना उचित रहेगा।

मानवीय जीवन नितान्त एकाकी जीने जैसा नहीं है। उसे समुदाय में रहना-जीना होता है। व्यक्तिगत जीवन की भी कुछ अर्हताएं होती हैं एवं समष्टिगत जीवन की भी। व्यक्तिगत जीवन में क्षमा-उदारता-परोपकार जैसे मूल्यों की कोई आवश्यकता नहीं होगी, पर सामुदायिक जीवन में ये गुण अत्यन्त मूल्यवान हैं। इनके बिना सामुदायिक जीवन ठहर नहीं सकता। यद्यपि क्षमादि गुण आत्म-निष्ठ हैं लेकिन उसका व्यवहारिक रूप सामुदायिक जीवन में घटित होता है। यह भी निश्चित है कि मनुष्य का जीवन जो खण्ड-खण्ड में खण्डित हुआ है वह सामुदायिक जीवन का ही प्रताप है। किन्तु समुदाय एकान्ततः व्यक्ति को विखण्डित करने वाला नहीं है। वह व्यक्ति को जोड़ने वाला व मंजिल तक पहुंचाने वाला भी है। यदि ऐसा नहीं होता तो न उपदेश की आवश्यकता होती और न गुरु-शिष्य परम्पराओं की ही। तीर्थंकर भगवन्तों ने तीर्थ का प्रवर्तन किया, वह अध्यात्म में भी सामुदायिक जीवन को प्रतिष्ठित करता है। नीति-मर्यादाएं आदि सामुदायिक जीवन के लिए ही महत्व रखती हैं। सामुदायिक जीवन में परस्परपग्रह का भाव घटित हो सकता है। आचार्य-उपाध्यायादि सामुदायिक चेतना में वैयक्तिक चेतना जागृत करते हैं। वैयक्तिक चेतना जागृत हो जाने पर सामुदायिक नीति-नियम, कानून-कायदे उसके लिए लागू नहीं होते। अध्यात्मिक भाषा में वैयक्तिक चेतना में जीने वालों को आगम व्यवहारी कहा जाता है। यानी जो अपने ज्ञान अनुभव को सम्मुख रखकर व्यवहार-गति-प्रवृत्ति करता है। वैयक्तिक चेतना में जीने वाले विशेष होते हैं, पर उनके जीवन का आरम्भिक काल भी सामुदायिक चेतना से गुजरा होता है। वैयक्तिक चेतना पर निरपेक्ष होती है।

## प्रेरणा प्रद सूई-डोरा

आज सुबह सिलाई वाले डोरे की गिट्टी व उसमें लगी हुई सूई का आभास हुआ। आभास अन्यान्य समयों में भी होता है। कभी उस पर अनुप्रेक्षा हो पाती है, कभी वह आभास शून्य ही बना रह जाता है।

सूई-डोरे का आभास यह संकेत देता है कि चेतना के लिए ज्ञान जरूरी है। सूई, डोरे सहित हो तो सहसा गुम नहीं होती। यदि गुम भी जाय तो वह शीघ्र मिल भी जाती है। चेतना भी ज्ञान युक्त हो तो वह संसार में-नरक-निगोद में खोती नहीं है। दूसरा संकेत यह मिलता है कि सूई का अग्र भाग तीक्ष्ण होता है। हमें अपनी बुद्धि को भी पैना बनाना चाहिये। पैनी सूई वस्त्र में शीघ्र प्रवेश कर जाती है व डोरे से उसे जोड़ती जाती है। हमारी बुद्धि का पैनापन भी लक्ष्य को साधने वाला होना चाहिये। पूर्वापर का संदर्भ जोड़ने वाला होना चाहिये। सूई अपने पेंदे में डोरे को रखने का अवकाश रखती है। हमारी बुद्धि भी सह-अस्तित्व के भावों से युक्त होनी चाहिये। सूई का पेंदा सामुदायिक चेतना का प्रतीक है। सूई कपड़े को व्यवहार्य बनाती है, बुद्धि भी व्यवहारी हो। हमारी बुद्धि हमें व्यवहारी बनाये। हम सामुदायिक जीवन में कैसा व्यवहार करें। सूई से वस्त्र के दोनों छोर जोड़े जा सकते हैं। इसमें डोरे का महत्व रहता है। अनासक्ति का धागा हमारे जीवन के दोनों छोरों, जीवन-मरण को साधने वाला बने। सूई पतले-मोटे किसी भी वस्त्र में घुस जाती है। हमारी बुद्धि सहज या कठिन हर तत्त्व में प्रविष्ट करने वाली बने। सूई प्रयोग में आती रहती है तो उस पर जंग नहीं लगती। हमारी बुद्धि का उपयोग भी होते रहना चाहिये। हम स्वयं को अनुपयोगी न समझें। हम स्वयं को उपयोगी बनाएं। उपयोगी बनाने का अर्थ है हम कर्तव्य को जानें एवं उस दिशा में बढ़ें। डोरा गिट्टी पर समेटा हुआ होता है तो उलझता नहीं है। हमें स्वयं को सिमटा कर रखना चाहिये। अपनी विशेषताओं को प्रदर्शित करने का भाव उलझन पैदा करने जैसा है। स्वयं को संक्षिप्त-समेट कर रखना समाधि कारक होता है। सूई-डोरे के और भी उपयोग हैं। हमें यथायोग्य संधान करते हुए आत्म प्रेरणा लेनी चाहिये।

## योग्यता: प्रयोग और परिश्रम से

गुण बहुतों में होते हैं, पर योग्यता सब में नहीं होती। होती भी है तो उसका स्तर एक समान नहीं होता। गुण चाहे मैनेजमेंट का हो या अन्य, किसी का गुण होना मात्र पर्याप्त नहीं है। उसकी योग्यता भी होना जरूरी है। दही जमाना एक कला है, गुण है, लेकिन योग्यता के अभाव में दही जम नहीं पायेगा। मैनेजमेंट कैसे करना है, यह एक गुण है, किन्तु बिना योग्यता के कामयाबी हासिल नहीं होती। योग्यता आती है मेहनत से। अभ्यास से। व्यक्ति जिस कला-गुण में पारंगत होना चाहता है, उसके लिए उसे निरन्तर परिश्रम करते रहना चाहिये। ऐसा करने से उसे उसमें सफलता मिल जाती है। योग्यता लगन और मेहनत मांगती है। प्रवचन देना, जन संपर्क करना, लेख लिखना, यहां तक कि खाना बनाना आदि कार्यों को सम्पन्न करने का गुण बहुतों में होता है, लेकिन योग्यता के अभाव में उनके कार्य परिणाम दायक या सुपरिणाम दायक नहीं हो पाते। मेरा ऐसे आई. ए.एस. व्यक्ति से भी संपर्क हुआ, जो आई.ए.एस. तो था किन्तु प्लान बनाना, उसे इम्प्लीमेंट कैसे करना, उसमें वह योग्य नहीं था। इन्जीनियरिंग पास ऐसे अनेक व्यक्ति संपर्क में आए जो योग्यता के अभाव में आजीविका चलाने में भी समर्थ नहीं हैं। उनमें गुण तो है, पर योग्यता विकसित नहीं हो पाई। योग्यता के लिए सूक्ष्म एवं तत्त्व ग्राही बुद्धि का होना जरूरी है। ऐसी बुद्धि किसी भी विषय को भेद कर उसकी गहराई में पहुंच जाती है। उससे उसका वह गुण योग्यता प्रकटाने वाला बन जाता है। गुण एक प्रकार से ज्ञान रूप है, जबकि योग्यता अनुभव से प्रकट हो पाती है। अनुभव प्रयोग-परिश्रम मांगता है। व्यक्ति जैसे-जैसे प्रयोग करता है, वैसे-वैसे उसकी योग्यता बढ़ती रहती है। मैंने ऐसे एम.बी.बी.एस.डॉक्टर को भी देखा है, जो एम.डी. एवं एम.एस. से ज्यादा योग्य लगा। जिस रोग का निदान एम.डी. एवं एम.एस नहीं कर पाये, एम.बी.बी.एस. ने कर दिया। ज्ञात हुआ कि उसकी प्रेक्टिस अधिक है। इससे अनुभव व योग्यता उसमें विशेष थी। उक्त योग्यता के लिए व्यक्ति को परिश्रमी और प्रयोग धर्मी बनना जरूरी है।

## एक स्रोत का चमत्कार

तिरने या डूबने के लिए एक स्रोत-सुराख काफी है। खोज करने वाला एक स्रोत से मोक्ष तक को खोज लेता है। मोक्ष को पा भी लेता है। पर खोजने वाले की दृष्टि यदि सही नहीं है तो वह एक स्रोत से डूब भी सकता है। देखने वाले ने, खोजने वाले ने यदि पर दोष देखा-खोजा तो वह एक दोष रूपी स्रोत से स्वयं को डुबो सकता है। आज उसे वह दोष दर्शन छोटा सा सुराख लगता है, पर कल उसका आकार क्या होगा, वह आज नहीं जान पाता। उसे उसका ज्ञान तब होता है, जब बाजी उसके हाथ से निकल गई होती है।

पर दोष देखने की वृत्ति प्रारम्भ में सामान्य लगती है किन्तु धीरे-धीरे वह सघन होती चली जाती है। सघन भी इतनी गहरी हो जाती है कि दूसरों के दोष देखे बिना उसे चैन ही नहीं पड़ता। और तो क्या अदोष में भी वह दोष निकालने से नहीं चूकता। प्रश्न होगा अदोष, यानी जहां दोष नहीं है, जिसमें दोष नहीं है, जब जहां जिसमें दोष हो ही नहीं तो वहां उसमें वह दोष कैसे निकालेगा? दोष तो होगा तभी निकाला जा सकता है। हो ही नहीं तो उसे निकालेगा कैसे? यह समझने जैसी बात है। जिज्ञासा एकदम सटीक है कि जब दोष है ही नहीं तो दोष निकालेगा कैसे? यदि दोष निकाल रहा है तो स्पष्ट है दोष है तभी उसे निकाला गया। उसका समाधान यह है कि दोष जब व्यक्ति की आँख में बस जाता है, उसे वैसा ही नजर आता है। जैसा कि कहा जाता है- सावन के अन्धे को हरा ही हरा दिखता है। वैसे ही जिसकी आँख में दोष घुस जाता है, उसे दोष ही दोष दिखता है। तीर्थंकर भगवन्त सर्वथा दोष रहित होते हैं फिर भी दोष देखने में माहिर व्यक्ति दोष निकालता है कि वाह! यह कैसी वीतरागता? छत्र- चंवर आदि आडम्बर-प्रदर्शन किया जा रहा है, क्या यह दोष नहीं है? यह है उसकी दोष दृष्टि का चमत्कार। वस्तुतः तीर्थंकर भगवान को छत्र- चंवर आदि से कोई लेना- देना नहीं है। वे उनसे सर्वथा निर्लिप्त होते हैं। वह देवों की भक्ति है। वे भक्तिवशात् वैसा करते हैं।

इससे विपरीत सही दिशा में खोज करने की दृष्टि वाले को एक स्रोत-सुराख मिल जाय तो वह

## जैनत्व की पहचान

**जै**न घर में जन्म लेने से वस्तुतः जैनी नहीं हो जाता। जैनत्व के संस्कारों से जब तक संस्कारित न हो जाय, तब तक वह जन्म से जैन कहला सकता है, कर्म से अथवा यथार्थ में उसे जैन नहीं कहा जा सकता। ब्राह्मण वर्ग में ऐसी मान्यता है कि जब तक जनेऊ संस्कार न हो जाय तब तक उसे ब्राह्मणी कर्म करने का अधिकार नहीं होता। उसे शूद्र ही माना जाता है। यज्ञोपवीत संस्कार के पश्चात् ही वह ब्राह्मण कहलाता है। इसी प्रकार मनुष्य तन में आ जाने मात्र से उसे मानवीय योग्यता से सम्पन्न नहीं माना जा सकता। यद्यपि भाव से वह मनुष्य है क्योंकि वह मनुष्यायु और मनुष्यगति नाम कर्म का वेदन कर रहा होता है। किन्तु सही मायने में मनुष्य जीवन योग्य कर्म करने पर ही उसे मनुष्य कहा जाना चाहिये। यही दृष्टिकोण अन्यत्र भी समझना चाहिये।

जैन संस्कारों से संस्कारित नहीं होने से वर्तमान में जैन समुदाय की दशा विचित्र बनी हुई है। जैन जीवन शैली से यदि जीवन जीया जाता है तो वह समुदाय अन्य से अलग ही दिखेगा। उसका जीवन स्वतः उसका परिचय होगा। केवल जैन कह देने मात्र से लोग उसे सम्मान से देखेंगे। एक युग था जब जैनों को अत्यन्त महत्व मिला हुआ था, क्योंकि उनकी जीवन शैली प्रभावक थी। उनका जीवन ठोस था। कथनी-करनी में अन्तर नहीं था। ऐसा जीवन ही शासन की प्रभावना करने वाला होता है। उसे लड्डुओं की अथवा अन्य कोई प्रभावना वितरित नहीं करनी पड़ती। उनका जीवन प्रभावोत्पादक हुआ करता था। वर्तमान में भी कुछ ऐसे लोग हैं, पर बहुलता उन लोगों की है जो जैनत्व के संस्कारों से संस्कारित नहीं हैं। अथवा वर्तमान में वे उन संस्कारों को मूल्य नहीं देते हैं। जैसे समान्य लोग जीते हैं, वैसे ही वे भी जी रहे होते हैं। झूठ-छल-प्रपंच यदि उनके जीवन का अंग बन जाय तो कैसे कहें कि जैनत्व के संस्कारों को उन्होंने सुरक्षित रखा है। पैसे को यदि परमात्मा (उप लक्षण से) मानें तो कैसे कहें कि उनका जैनत्व सुरक्षित है। जैनों! अपने जैनत्व को पहचानो एवं उसके अनुसार ही जीवन जीओ।

## कहाँ थे, कहाँ हैं, कहाँ होंगे

**क**ल हम कहाँ थे? आज कहाँ हैं? कल कहाँ पहुँचेंगे? यह कोई पहली नहीं है, जीवन की सच्चाई को प्रकट करने वाला कथ्य है। जैन मुनियों का आचार कल यानी भूत में कैसा था? यदि इसे विस्तारित करें तो खूब लम्बा-चौड़ा लिखा जा सकता है। थोड़े में हम समझ सकते हैं कि उनमें लोकेषणा नहीं थी। सौ वर्षों पूर्व तक हमें दूर तक किन्हीं जैन संतों-आचार्यों के फोटो नजर नहीं आयेंगे। यह तथ्य इतना सशक्त है कि वह हमारी मनः स्थिति को व्यक्त कर देता है। यदि कोई फोटो कहीं किसी का मिलता भी है तो वह काल्पनिक हो सकता है या फिर उनकी बगैर जानकारी के किसी ने ले लिया होगा। वे फोटो आदि लोकेषणा से स्वयं को कोसों दूर रखते थे। वर्तमान में हम कहाँ हैं? फोटो-वीडियो आदि जब तक न हों, खाया-पीया हजम ही न हो। गाड़ियां, सामान से भरी जैन संतों के साथ चल रही हैं। जहाँ मन हो जाय तो उसमें बैठ भी जाते हैं। खाने-पीने की जब जिस पदार्थ की मन में आ जाय लो गाड़ी में से भोग लगा लो। यदि कोई कहे कि महाराज! यह क्या कर रहे हैं तो उत्तर होता है, कषाय जय से मोक्ष होता है। जो ज्यादा क्रिया-क्रिया करते हैं, उतने ही उससे जकड़े हुए होते हैं। वे उससे निकल नहीं पाते। श्रावक वर्ग में भी एक तबका ऐसा है जो वैसा ही चाहता है। बदलते युग में बदलना ही चाहिये! मोबाइल से मांगलिक मिल जाय, महाराज मोबाइल से बात कर लें, वह श्रावक स्वयं का अहोभाग्य मानता है। यह दर्शाता है कि आज हम कहाँ हैं? कल हम कहाँ रहेंगे? इस पर मैं कहना चाहूँगा सदा एक सा रहे न रहता। सदा एक जैसी स्थिति नहीं रहती। उसमें बदलाव आता है। कुछ-कुछ स्थानों पर बदलाव दस्तक देने लगा, उसकी आहट सुनी जा रही है। अतिक्रमण का प्रतिक्रमण होना ही चाहिये। यदि व्यक्ति प्रतिक्रमण नहीं कर पाया तो आक्रमण के लिए उसे तैयार रहना होगा। अतः कल हम अच्छे स्थान पर रहेंगे ऐसा कह सकते हैं।



खालंब्रे  
27.5.2016  
ज्ये.कृ.-5  
शुक्रवार

## डॉ. कोठारी का प्रश्न

**रा**त्रि में डॉ. कोठारी ने प्रश्न किया— कुछ संत भगवन्त जहाँ गोचरी की व्यवस्था नहीं हो पाती, वहाँ डब्बे लाने का कहते हैं। हमें क्या करना चाहिये? उत्तर— भगवान महावीर ने फरमाया है कि उनका शासन इक्कीस हजार वर्षों तक चलेगा। इसका अर्थ है साधु-साध्वी, श्रावक-श्राविका उतने समय तक अवश्य रहेंगे। साधु और श्रावक का लक्ष्य एक ही है पर सामर्थ्य की न्युनाधिकता से व्रतों की पालना में अन्तर है। श्रावक स्वयं के लिए भोजन बनाता भी है, बनवा भी सकता है पर, साधु न स्वयं खाना पकाते हैं न दूसरों से पकवाते ही हैं। यदि उसे ज्ञात हो जाय कि अमुक गृहस्थ ने उसके लिए खाना बना दिया है तो वे उसे स्वीकार ही नहीं करते। शास्त्र कहता है कि साधु दस-बीस अथवा सौ घरों से गोचरी लाया हो, उस विपुल आहार में उसके निमित्त बने हुए भोजन का यदि थोड़ा सा अंश भी मिल गया हो तो साधु को वह सारा खाना परठ देना चाहिये, उसे खाना नहीं चाहिये। शरीर के लिए पॉयजन घातक-खतरनाक होता है, वैसे ही साधु के लिए बना हुआ भोजन संयम विघातक होता है। संयम के लिए खतरनाक होता है। इसलिए उसे परठ-फेंक देने का आदेश है। उसे खाना नहीं चाहिये। यदि भूखे भी रहना पड़े तो रहे। श्री भगवती सूत्र में भगवान श्री महावीर फरमाते हैं कि आधाकर्मो-साधु के लिए बनाया हुआ आहार यदि साधु करता है तो वह अल्प स्थिति वाले कर्मों को दीर्घ स्थिति वाला, अल्प प्रदेश वाले कर्मों को बहुप्रदेशी एवं मंद रस वाले कर्मों को तीव्र रस वाला बनाता है। बार-बार असाता वेदनीय कर्मों का बन्ध करता है। वह मुक्ति को प्राप्त नहीं कर सकता है। इस प्रकार से विचार करने पर स्पष्ट होता है कि संत भगवन्तों को डब्बे का निर्देश नहीं देना चाहिए। उन्होंने पूछा हमें क्या करना चाहिये? संत न डब्बा ले जाने का कह सकता है न नहीं ले जाने का। ले जाने का कहने से वे स्वयं के दोष के भागी होते हैं। नहीं ले जाने का कहने से दूसरों को अन्तराय का प्रसंग बन सकता है। क्या करना? यह आपको ही निर्णय करना है। भगवान की आज्ञा का काम नहीं है, इतना कह सकते हैं।

बड़गांव मावल  
28.5.2016  
ज्येष्ठ कृष्ण 6  
शनिवार

## बचाव का अमोघ शस्त्र

**बु**द्धिमंदता में असुरक्षा का भाव बहुत शीघ्र पैदा होता है। उससे कुछ भी अकृत्य हो जाए तो उससे उसको भय पैदा होने लगता है कि अब क्या होगा ? उस समय वह अन्य कोई रास्ता नहीं ढूँढ़ पाता है तो कोई ऐसा हौवा खड़ा करेगा जिससे उसके अकृत्य पर कोई उसे कुछ कहे नहीं। हौवा खड़ा करने का अर्थ होता है मूल विषय से ध्यान हटाने का प्रयत्न। ऐसा मंद बुद्धि से तो होता ही है पर राजनैतिक क्षेत्र में भी इसका प्रयोग बहुत बार होता है। वहाँ भी किसी घटना, प्रसंगादि या उनकी किसी भी असफलतादि से ध्यान हटाने के लिए, उनके द्वारा कोई नया हौवा खड़ा कर दिया जाता है, जिससे जनता का ध्यान उधर बंट जाए। यह तात्कालीन उपचार की दृष्टि से तो ठीक माना जा सकता है, किंतु इसके परिणाम आत्म भाव की दृष्टि से घातक होते हैं। यह एक प्रकार से बचाव का मार्ग है जो मन की कमजोरी का ही परिणाम है। बार-बार ऐसा होते रहने से विश्वास घट जाता है। उसका स्वयं का आत्मविश्वास भी कमजोर होने लगता है। उससे उबरने के लिए सही उपाय है अपनी गलती को स्वीकार करने का भाव। उससे गलती नहीं हो ऐसा आगे से प्रयत्न हो सकता है अन्यथा भविष्य में भी वह गलती करता रहेगा और अपने अमोघ शस्त्र का बचाव भी करता रहेगा।

उसे अमोघ शस्त्र इसलिए कहा गया है कि वह इसे अमोघ शस्त्र मानता है, उसकी ऐसी मनःस्थिति बन जाती है कि ऐसा करने से मेरा बचाव हो जाएगा। यह बचाव की मनःस्थिति, मनोबल को सुदृढ़ नहीं होने देती। मनोबल की सुदृढ़ता मुकाबले के लिए तैयार हो जाती है पर क्षीण मनोबली वैसे हिम्मत जुटा नहीं पाता और बचाव का रास्ता ढूँढ़ता रहता है।

## जिन और जिनागम आस्था के आधार

**भ**गवान पर या उनकी वाणी-शास्त्रों पर जिसे विश्वास नहीं होता वह साधु तो क्या सम्यग्दृष्टि भी नहीं हो सकता। सम्यग्दृष्टि होने की प्रथम पहचान है जिनागमों पर, देव-गुरु-धर्म पर दृढ़ आस्था होना। यदि आस्था में थोड़ी भी चूक है तो वहाँ सम्यग्दर्शन ठहरना कठिन है।

सुना जाता है कि कुछ-कुछ साधु-संत अपनी चर्या को उचित ठहराने के लिए ऐसा कह दिया करते हैं कि भगवान महावीर तीर्थंकर हुए भी हैं या नहीं? काल्पनिक घटनाएँ गढ़ ली गई होंगी। कभी-कभी ऐसा भी कह देते हैं कि भगवान के युग में विद्युत-परिचालित साधनों की उपलब्धता नहीं थी, यदि होती तो भगवान उन पर अवश्य विचार व्यक्त करते, आदि। ऐसा कहने वाला बड़ी भूल तो यह कर बैठता है कि वह भूल जाता है कि सर्वज्ञ-सर्वदर्शी समग्र द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव को जानने वाले ही होते हैं। उनके ज्ञान में भूत-वर्तमान-भविष्य कुछ ओझल नहीं रहता। वर्तमान युग को भी वे जान रहे थे, देख रहे थे। वर्तमान ऐसा तर्क करने वाले होंगे, ऐसा भी वे जानते ही थे। उसको हम उनके द्वारा निरूपित तथ्य से ही जान सकते हैं। उन्होंने विद्युत को तेरुकाय के अन्तर्गत बताया, जो कि छह काय जीव समुदाय में से एक समूह है। उसकी हिंसा भी साधु के लिए अकरणीय है। इससे क्या हम नहीं समझ सकते हैं कि भगवान ने जो कहना था वह संकेत रूप में कह दिया। समझने वाले को इशारा ही काफी है। मोटी बुद्धि वालों को तो कितना भी समझाओ, वे समझ लें यह कठिन है। भगवान पर जितनी आस्था हो उतनी ही आस्था उनकी वाणी, उनके ज्ञान पर होनी चाहिये। जितनी-उतनी का अर्थ है पूर्ण। कई लोग भगवान पर तो श्रद्धा करते हैं पर उनकी वाणी के विषय में डाँवाँडोल होते हैं। उन्हें समझना चाहिये कि उन्होंने उन आगमों को ही सम्मुख रखकर साधु जीवन स्वीकार किया है। अतः मूल को भूलें नहीं।

## आत्मशक्ति जगे तो प्रभु भक्ति

**प**रमात्म-भक्ति से आत्म-शक्ति जागृत होनी चाहिये। आत्म-शक्ति जागरण का अर्थ है कैसी भी परिस्थिति आए स्वयं को विचलित नहीं होने देना। दुनियावी लोग जहाँ यश-कीर्ति एवं नाम के लिए लालायित रहते हैं वहीं आत्म सामर्थ्य जग जाने पर न नाम की ख्वाहिश रहती है न यशादि की। भगवान से प्रार्थना करें। भगवन् ! तुम्हारी भक्ति मैं कर पाऊँ या न कर पाऊँ पर तुम्हें कभी भूलूँ नहीं। याद करने की भी जरूरत न पड़े। यदि ऐसी परिणति मेरी बन जाती है तो मैं समझूँगा मेरा जन्म सफल हो गया। सार्थक हो गया। अन्यथा मैं कितनी भी भक्ति करता रहूँ पर मन विचलित होता रहे, मन यश कामना में लगा रहे, पुद्गल प्रीत में कोई अन्तर न आ पाए तो उस भक्ति से क्या होगा? वह केवल मन को राजी करना होगा। वस्तुतः वह भक्ति नहीं, दिखावा मात्र होगा। भक्ति में जो हृदय लीन हो जाता है, वह तादात्म्य भाव का अनुभव करेगा। उसे लगेगा **“जो प्रभु है वह मैं हूँ, जो मैं हूँ वह प्रभु है। मुझमें और प्रभु में कोई भेद नहीं है।”** आत्म द्रव्य की दृष्टि से दोनों असंख्यात प्रदेशी द्रव्य हैं। दोनों स्वतंत्र द्रव्य हैं। मैंने अभी विजातीय पदार्थों में सम्बन्ध बनाये रखा है, इसलिए मैं अपने उस स्वरूप को जान नहीं पा रहा हूँ। प्रभु भक्ति से आत्म-शक्ति जग जाती है। उसके जगने से वह उनके मूल स्वभाव का ज्ञाता बन जाता है। उसका अन्तर बोल उठता है। छवि अन्दर की देखी जिसने, वह फिर बाहर क्या देखे। वस्तुतः आत्म-छवि के अननुभूत अवस्था में ही बाह्य पदार्थ आकर्षक लगते हैं। हालांकि वे सारे आकर्षण क्षणिक हैं। अल्प कालिक हैं। उनका आकर्षण, उनकी चमक थोड़े समय पश्चात् ही विवर्ण हो जाया करती है पर जब तक आत्मशक्ति नहीं जगे तब तक तो वे बाह्य पदार्थ ही मूल्यवान लगते हैं। आत्म-दर्शन के क्षणों में तो कोहिनूर हीरा भी मिट्टी के ढेले से ज्यादा मूल्यवान नहीं होगा। उस समय मूल्य होता है ज्ञान, दर्शन एवं चारित्र की पर्यायों का। बस प्रभो ! मैं वही रूप पाऊँ ऐसा मेरा प्रयास हो।

## अपाय का उपाय पहले

**ज**ब भय का वातावरण हो, जब क्रोध आने लगे, जब शोक मय वातावरण हो उस समय अपना बचाव कैसे किया जाए? यह एक प्रश्न है। प्रश्न यद्यपि तीन हैं, किन्तु जाति की अपेक्षा से प्रश्न एक ही है। जब... आए तो क्या करूँ? यही समस्या का मूल कारण है। इधर आग लगी उधर कुआँ खोदे जाने लगे तो क्या कहा जायेगा? प्रश्न की मनः स्थिति भी लगभग वैसी ही है। जब... आ जाए या आने लगे तब उसका कोई उपाय करना गहरी सोच नहीं है। हम जानते हैं कि उक्त अवस्थाएँ प्रायः आ जाया करती हैं, अतः प्रयत्न ऐसा होना चाहिये कि भविष्य में ऐसी अवस्थाएँ आएँ ही नहीं। यदि आ भी जाएँ तो वो हमें पीड़ित न कर सकें। उसके लिए हमें पहले से ही प्रयत्नशील होना चाहिये। दुर्घटना घटने के बाद उपाय करना उपचार नहीं है। उपचार वह है कि दुर्घटना घटे ही नहीं। अर्थात् पानी से पहले पाल बाँध लेना।

क्रोधादि के विपाक-अपायादि पर समीक्षा करनी चाहिये। क्रोध क्यों आता है? शोक से मैं कैसे अप्रभावित रह सकता हूँ? कैसे मैं स्वयं को निर्भय बना पाऊँ? इस प्रकार अनुप्रेक्षा से हमें आगे बढ़ते रहने का रास्ता मिलेगा। उससे हम जान पायेंगे कि क्रोधादि के कर्म हमने ही बाँधे हैं, हमें ही भोगने पड़ेंगे। न दूसरों के कर्म हमें भोगने पड़ते हैं और न ही हमारे कर्म कोई दूसरा भोगेगा। हमारे बाँधे कर्मों को हमें ही भोगना पड़ता है। 'बाँधे सो ही भोगवे' यानी जो बाँधता है वही भोगता है। भोगना शान्ति से भी हो सकता है और हाय-हाय करके भी। हाय-हाय से जीव नवीन कर्मों का बन्धक होता है, जबकि शान्त भावों से उदय भाव को झेलने वाला नये कर्मों के बाँध को रोकने वाला बन जाता है। इसलिए हमें कर्मोदय का वेदन हो, उस समय स्वयं को शान्त रखना चाहिये। इस प्रकार की अनुप्रेक्षा से जीव के अन्तर में अद्भुत शक्ति का जागरण होता है। परिणामस्वरूप वह कठिन क्षणों में भी स्वयं को सशक्त महसूस करेगा। कोई भी कठिन क्षण उसे विचलित नहीं कर सकते। अतः अपाय का उपाय पहले ही कर

## सोच समझ ही मुख्य

**दुःख**, पीड़ा, परेशानी, तनाव, समस्या, झंझट, कष्ट, क्या इनसान इन्हीं चक्कियों में पीसा जाता रहेगा? क्या यही उसकी नियति है? सुख, शान्ति, संतोष, स्नेह, वात्सल्य आदि सारी अवस्थाएँ क्या कपोल कल्पित हैं? क्या आकाश कुसुम की भाँति है? क्या इनका अस्तित्व है ही नहीं? यदि है तो क्या दुर्लभ या अलभ्य है? क्या इनसान उनको पाने का पात्र नहीं है? यदि है तो वह इन सबका अनुभव क्यों नहीं करता? क्यों वह अशांति में बहता रहता है? क्यों वह अनिश्चय से अस्थिर बना रहता है? आखिर कारण क्या है कि वह गीत प्रेम-शान्ति के गाता है पर वे उसे नसीब नहीं होते? क्या सारा का सारा दुर्भाग्य इसी काल में एक साथ उदय-प्रकट हो गया है? जिससे मानव जगत अशान्त बना हुआ है। इन प्रश्नों के उत्तर जो भी हों किन्तु मानव मन की विषमता को अच्छी तरह से जाना जा सकता है। उत्तर कुछ भी आए उसे पूर्ण नहीं मान सकते। मनुष्य का अनुभव ही सदैव सर्वोपरि रहे। यदि उसे गौण करके हमने कुछ भी उत्तर गढ़े तो वे उत्तर ग्रंथों में शोभित हो सकते हैं, मानव जीवन उससे लाभान्वित नहीं हो सकता।

मानव जीवन दुःख-पीड़ा की चक्कियों में पिस रहा है उसका मूल कारण उसकी नासमझी है। नासमझ व्यक्ति ही दुःख-पीड़ा आदि का अनुभव करता है। जो जीवन के अन्तर रहस्यों को जानने वाले हैं, जान गये हैं, वे दुःखादि का संवेदन नहीं करते हुए हर स्थिति में स्वयं को शान्त बनाये रखते हैं। विषम स्थितियों में स्वयं को सम रखने में समर्थ होते हैं क्योंकि वे जान गये हैं कि दुःख पीड़ा आदि एकमात्र व्यक्ति की समझ पर निर्भर है। व्यक्ति चाहे तो किसी भी परिस्थिति में सुख-आनन्द का अनुभव कर सकता है। योग हो या वियोग, वन हो या भवन, शत्रु हो या मित्र उससे उसे कोई फर्क नहीं पड़ता। अतः सुख-दुःख, संतोष-असंतोषादि मनुष्य की सोच एवं समझ पर निर्भर है।

## महावीर बनने का मार्ग

**आ**ज अनुप्रेक्षा के क्षणों में मन 'अज्झत्थं पस्स' पद पर ठहर गया। पद को देखा। पद की प्रकृति को जानने का प्रयत्न किया। पद को उठाया। भारी लगा। छोटा सा पिटारा यदि रत्नों से भरा हो तो वह पिटारा भले ही आकृति में छोटा हो पर मूल्य में महान होता है। भारी होता है। उक्त पद भी दिखने में छोटा है, किन्तु छोटे होने मात्र से इसका मूल्य कम नहीं हो जाता। सूई छोटी होती है, पर लोह खण्ड से वह मूल्यवान होती है। सौ रुपये या हजार रुपये का नोट साइज में छोटा होता है किन्तु मुद्रित होने से उसकी कीमत सौ, हजार हो जाती है। वैसे ही 'अज्झत्थं पस्स' पक्ष अपना मूल्य रखता है। इसका शाब्दिक अर्थ होगा— आत्मा में देखो। आत्मा अरूपी है उसमें या उसे कैसे देखा जाय? क्या चर्म चक्षुओं से उसे देखा जा सकता है? असंभव। फिर सूत्र के अर्थ को कैसे समझें? आत्मा का अर्थ स्वयं भी होता है। उस स्थिति में सूत्र का कहना है स्वयं को देखो। दर्पण के सम्मुख खड़े हो, लोग स्वयं को निहारते हैं, यह बाह्य रूप को देखना हुआ। अपने आन्तरिक जीवन की झलक पानी चाहिये कि वह कैसा है? वह सुघड़ है या बिगड़ा हुआ है। यदि उसमें विकृति दिखे तो उस विकृति को भी देखो। तोलो कि क्या यह मेरे आन्तरिक जीवन से मेल खा रही है? स्वर्ण-थाल में पड़े छेद को ठीक करने के लिए यदि ताम्र धातु की कील लगाई गई होगी तो वह अलग-थलग ही नजर आयेगी। वैसे ही देखना चाहिये कि मेरे आन्तरिक जीवन की स्थिति कैसी है? वह 'कंथा' रूप तो नहीं बन गया है? यदि वैसा बन गया हो तो उसे वैसा ही रखना या उसे सही रूप में लाने का प्रयत्न करना। 'अज्झत्थं पस्स' सूत्र उन व्यक्तियों के लिये तो अत्यन्त ही महत्व रखता है जो स्वयं के बजाय दूसरों को ज्यादा देखते हों, किंवा दूसरों पर ही लक्ष्य रहता हो। उन्हें यह सूत्र कहता है स्वयं को देखो। स्वयं को देखो। स्वयं को देखो। जब भी देखो केवल अपने को देखो। महावीर बन जाओगे। महावीर बनने का मार्ग है अपने को देखो। बस, अपने को देखो।

## किस को कैसा होना चाहिये ?

**बा**प सोचता है बेटा कैसा होना चाहिये? गुरु विचार करता है कि शिष्य कैसा हो? सास का सोचना बहू के प्रति रहता है कि वह कैसी है? माता, पुत्री के विषय में भी ऐसी ही सोच रखती है। मालिक, नौकर कैसा होना चाहिये सोचता है। यह सोच निम्न गामी है। अपने से नीचे वाले के लिये सोचा जा रहा है कि वह कैसा हो? वस्तुतः प्रत्येक व्यक्ति को यह सोचना चाहिये कि वह कैसा हो? यदि इस प्रकार से सोचा जाने लगा तो बेटा-शिष्य-बहू-पुत्री आदि के विषय में सोचने की जरूरत ही नहीं होगी। दर्पण को कैसा होना चाहिये, सोचने से क्या मतलब? जो दर्पण को देख रहा है, दर्पण में देख रहा है वह कैसा हो, यह देखना होता है? यदि दर्पण की मीनमेख निकालने में समय लगाया तो उससे अपने में ही रही हुई मीनमेख निकल जाएगी, यह मत मान लेना। यदि कोई सोचे, दर्पण मेरा चेहरा ठीक दिखाने वाला होना चाहिये तो उसे क्या करना होगा? दर्पण को ठीक करना होगा या अपने चेहरे को? स्पष्ट है उसे अपने चेहरे को ही ठीक करने का प्रयत्न करना चाहिये। बेटा-शिष्य-बहू-पुत्री आदि एक प्रकार से दर्पण हैं। उनमें प्रायः उसकी ही झलक आती है। कहते भी हैं ये माँ जैसी डिकरी, घड़े वैसी ठीकरी। अतः दर्पण को सुधारने के बजाय जैसे स्वयं को सुधारने का लक्ष्य होता है या होना चाहिये वैसे ही बेटा, शिष्य कैसा होना चाहिये सोचने के बजाय उसे सोचना चाहिये कि उसे कैसा होना चाहिये। उसके लिए यदि उक्त प्रश्न की गुंजाइश नहीं है तो बेटे-शिष्यादि के लिए प्रश्न उठाने की भी जरूरत नहीं होनी चाहिये। यदि उनके लिए प्रश्न खड़े हो रहे हों तो बाप व गुरु आदि को सोचना रहता है कि उन्हें क्या सुधारना चाहिये? यदि कोई बेटा या शिष्य बाप-गुरु की तुला पर सही नहीं है, दर्पण सही नहीं है तो वह व्यक्तिगत दोष है। उस दोष का निवारण बाप या गुरु कर सके, यह संभव नहीं है— यथा जमाली, गौशाला आदि।



## अन्तर आहादकारी गुरु भक्ति

गुरु भगवन्तों की पूजा-भक्ति, सत्कार, सम्मान, आदर, बहुमान से चित्त प्रसन्न होता है। हृदय प्रमुदित होता है। अन्तर में प्रसाद गुण का आविर्भाव होता है। व्यक्ति द्वारा की गई गुरु भगवन्तों की भक्ति गुरु भगवन्तों को नहीं उसे ही प्रतिलाभित करती है। वह कर्ता है, क्रिया का लाभ कर्ता को ही मिलता है। अतः गुरु भगवन्तों की भक्ति से लाभान्वित भी भक्ति करने वाला ही होता है।

सूर्य विकासी कमल की पंखुड़ियाँ सूर्योदय होते ही खिलने लगती हैं। वैसे ही गुरु भगवन्तों की भक्ति से हृदय कमल की एक-एक कली विकसित हो जाती है। मेघ की गरज को सुनते ही मयूर नृत्य को आतुर हो जाता है। भक्त का मन संत भगवन्तों के नाम, गोत्र सुनते ही उत्फल हो जाता है। उसके मन का नर्तन वही अनुभव कर सकता है। पर हाँ, उसके मनोगत भावों की झलक उसका मुख दे देता है। उस समय उसका चेहरा बता देता है कि वह भक्ति से कितना सराबोर है।

कुछ लोग संतों को हमसफर मान लेते हैं, वहाँ वे बहुत बड़ी भूल कर बैठते हैं। हमसफर के प्रति भक्ति का वैसा जागरण नहीं हो सकता, जैसा गुरु स्थानीय होता है। अतः संतों को हमसफर मानने जैसी भूल नहीं करते हुए उन्हें गुरु भाव से ही देखा जाना चाहिये। संत कैसा भी हो, ज्ञानी हो अथवा अल्पज्ञानी, उसे भगवान का प्रतिनिधि मानकर पूरा-पूरा सत्कार-सम्मान का भाव रहना चाहिए। जो संत को संत मानकर चलता है उसका मन शान्त रहता है। वह उपशम भाव का आराधक बन सकता है। उसने गुरु भगवन्तों की भक्ति उपासना से जो पाया वह लाखों-करोड़ों से भी अप्राप्य है। पाया ही नहीं जा सकता। जो भक्ति से पाया जा सकता है वह पैसों से या अन्य से नहीं पाया जा सकता। अतः गुरु भगवन्तों की अन्तर भाव से भक्ति की जानी चाहिये। भक्ति से हृदय वीणा झंकृत हो जानी चाहिये।

## संघ सेवा - सदा सुहागन

संघ की सेवा शक्ति प्रदर्शन के लिए नहीं की जानी चाहिये। शक्ति को पैदा करने के लिए की जानी चाहिये। संघ सेवा का क्षेत्र संक्षिप्त नहीं है। उसका दायरा अत्यन्त विस्तृत है, जो चाहे जितना विस्तार दे सकता है। संघ सेवा के लिए मन में जुनून पैदा करना चाहिये, फिर चाहे रात हो या दिन क्या फर्क पड़ता है? व्यक्ति के पास अन्य कुछ भी साधन हो या न हो, भावना तो है ही। भावना योग कम नहीं होना चाहिये। उसे निरन्तर बढ़ाते रहना चाहिए। संघ सेवा का कार्य इन्तजार या मनुहार का नहीं है। उससे लाभ स्वयं को होता है। इसलिए आगे बढ़कर उसे पाने का प्रयत्न करना चाहिए। हो सकता है कोई धक्का भी मार दे, फिर भी अपना लाभ देखते हुए करने से पीछे नहीं खिसकना चाहिये।

संघ सेवा के लिए पद होना कोई जरूरी नहीं है। पद तो छाया है। वह कभी आता भी है तो कभी चला भी जाता है किन्तु संघ सेवा सदा सुहागन है। उसे पदादि से तौलना ही नहीं चाहिये। संघ सेवा का कोई काम छोटा नहीं होता। पूज्य गुरुदेव श्री नानालालजी म.सा. के श्रीमुख से सुना था कि उदयपुर के श्री डूंगरसिंहजी डूंगरपुरिया व्याख्यान के समय छोटे बच्चों को व्याख्यान स्थल से अलग स्थान पर ले जाते, गोली-टाँफी भी देते व कुछ सिखाने का भी लक्ष्य रखते। कभी कोई छोटा बच्चा टट्टी-पेशाब कर देता तो उसे वे स्वयं ही धो डालते। उसकी माता आदि को बुलाने का भाव नहीं रखते थे। इस प्रकार संघ सेवा के कार्यों को स्वयं योजित किया जाना चाहिये। जब जो काम दिखे, उसे निःस्वार्थ व निस्पृह भाव से करने का लक्ष्य रखा जाना चाहिये।

कई लोग कहते हैं संघ सेवा के लिए मार्गदर्शन दें। मार्गदर्शन यही है कि अन्तर दर्शन जागृत हो। संघ सेवा के कार्यों में स्वार्थ व स्पृहा को कहीं से कहीं कोई अवकाश नहीं मिलना चाहिये। राजनैतिक स्टण्ट खड़े नहीं करने चाहिये। किसी को दिखाने का भाव कभी संघ सेवा में नहीं आना चाहिये।

## आत्मा तो आत्मा ही है

**ज**ब हम अपने से अपरिचित होते हैं तब भी हम हैं तो आत्मा ही। जब हम स्वयं से परिचित हो जाते हैं तब भी होते हैं आत्मा ही और जब हम स्वयं में स्थित हो जाते हैं तब भी होते तो आत्मा ही हैं। आत्मा तो आत्म-रूप रहती रही है। परिवेश बदल गया होता है। आग में पड़ा लोहे का गोला आग की प्रतीति देता है। दूर से वह आग रूप ही लगता है, लेकिन है तो लोहे का गोला ही। आग से बाहर था तब भी वह अयस्क गोला था। आग के भीतर रहता हुआ भी है तो लोह-गोलक ही पर उसका रूप बदल गया होता है। उसको जानने वाले जानते हैं कि वह लोहे का गोला है। अनजान व्यक्ति उसे आग का गोला या आग ही समझता है। इसी प्रकार जब हम स्वयं से अनजान बने रहते हैं तब मैं आत्मा हूँ, ऐसा प्रयत्न हमारे में पैदा नहीं होता, किन्तु जब ज्ञान हो जाता है तो हमारे भीतर मैं आत्मा हूँ, सत्चित्त मेरा स्वरूप है आदि प्रत्यय प्रकट हो जाते हैं। उससे भी आगे जब हम कृत-कृत्य हो जायेंगे तब आत्मा की स्पष्टावस्था का बोध हो जायेगा। एक प्रकार से आत्म-रूप ही बन जायेगा। जो अनजान अवस्था है उसे हम आत्मा अथवा बहिरात्मा कह सकते हैं। ज्ञात अवस्था को अन्तर आत्मा एवं तद्रूप अवस्था को परमात्मा की संज्ञा दे सकते हैं। तीनों में आत्म तत्त्व मौजूद है पर अवस्थाओं का भेद है। प्रथम को बहिर कहा गया, द्वितीय को अन्तर विशेषण से संयोजित किया गया एवं तृतीयावस्था को परम विशेषण नवाजा गया। उक्त विशेषण उस-उस अवस्था का द्योतन कराने वाले हैं। अवस्थाओं के बदलने पर भी आत्म द्रव्य की मौजूदगी बरकरार है।

कर्मों के कारण आत्मा की अवस्थाओं में बदलाव आता है, कर्म का कारण कषाय है। कषाय से आत्मस्वरूप छिप जाता है। या यों कहें आत्मा का उपगूहन हो जाता है। तीव्र काषायिक भवों में तो आत्मा आत्म भाव से अनजान बना रहता है। स्वयं को जानने के लिए कषाय को शमित करना होगा। कषायों के शमन से स्वयं का ज्ञान होता है। कषायों के क्षीण होने पर आत्मा स्व स्वरूप को प्राप्त हो जाता है। वही अवस्था परमात्म रूप की है।

## चेतना के दो स्तर

**ख**ट्टा-मीठा, शीत-उष्ण आदि एन्द्रिक विषयों से मन चल-विचल हो, मुंहाकृति में अन्तर आता हो तो समझना चाहिये उस समय हम इन्द्रिय चेतना के स्तर पर जी रहे होते हैं। उस स्तर पर जीने वाले पर इन्द्रिय विषय प्रभावी बनते हैं। यदि अतीन्द्रिय चेतना स्तर पर हम चले गये हों तो वहाँ वे विषय प्रभाव डालने में समर्थ नहीं होते। इन्द्रिय चेतना स्तर पर चेतना की शक्ति मंद होती है, मंद पड़ जाती है। जिससे विषय उस पर हावी हो जाते हैं। अतीन्द्रिय चेतना स्तर पर चैतन्य शक्ति इतनी प्रबल हो जाती है कि विषय उसे प्रभावित कर नहीं पाते।

इन्द्रिय-चेतना स्तर पर दुनिया के प्रायः प्राणी जीते हैं। अतीन्द्रिय चेतना स्तर पर जीने वाले विरले होते हैं। जो जितेन्द्रिय होते हैं, वे ही अतीन्द्रिय चेतना स्तर पर पहुँच पाते हैं। इन्द्रियों के गुलाम रूप रहे हुए विचारों से अतीन्द्रिय चेतना का स्पर्श नहीं किया जा सकता। अतीन्द्रिय चेतना स्तर पर पहुँचने के लिए जरूरी होगा पोद्गलिक प्रीत को हटाना। यह पदार्थ मुझे भाता है, इसे तो मैं देखना भी पसंद नहीं करता। अमुक दृश्य बड़ा सुहावना लगता है, मन उसमें रीझ जाता है, अमुक दृश्य मन को व्यथित कर डालता है। इसी प्रकार शीत-उष्णादि एवं सुगन्ध-दुर्गन्ध के विषय में उठने वाली विचार श्रेणियाँ हमें इन्द्रिय चेतना के स्तर से ऊपर नहीं उठने देंगी। प्रारंभिक रूप में हमें अभ्यास करना चाहिये। जैसे ही पुद्गल प्रीत के विचार उठने लगे उन्हें अध्यात्म भावों से विगलित करें। उन्हें दूर करने का प्रयत्न करें। मन को संस्कारित करें कि ये स्वाद-गंध-वर्णादि अनेक बार तुमने भोगे हैं, इनसे कभी तृप्ति हुई नहीं, होगी नहीं। ये स्वाद जीभ पर पुद्गल के रहने तक है, गंध-पुद्गल नाशिका पुटों में रहने तक है। ये क्षणिक सुख देते हैं। बाद में तो मन स्मृतिजन्य सुख-दुख का वेदन ही करता रहता है। इस प्रकार से अनुप्रेक्षा करते हुए इन्द्रिय चेतना से ऊपर उठकर अतीन्द्रिय चेतना पर आरूढ़ हो सकते हैं।

## राग की प्रकृति रूक्ष

**रा**ग की प्रकृति कोमल महसूस होती है। उसका स्पर्श सुखद लगता है किन्तु उस पर गौर करेंगे तो स्थिति भिन्न प्रतीत होगी। ऊपरी सतह पर राग कोमल-सुहाना लगता है पर उसकी प्रकृति रूक्ष है। उससे रूक्षता पैदा होती है। चमड़ी पर लगाया जाने वाला पाउडर चिकना लगता है पर वह चमड़ी को रूक्ष करता है। वह चमड़ी के जलीय भाग का अवशोषण करता है, जिससे चमड़ी रूक्ष हो जाती है। जैसे वह पाउडर चिकना होते हुए भी रूक्षता देता है, वैसे ही राग भले ही सुहाना लगे पर उसकी प्रकृति रूक्ष होती है। वह अन्तर में रूक्षता पैदा करता है। राग के साथ जब तक स्वार्थ होता है वह प्रिय लगता है। जैसे ही स्वार्थ में विघ्न पड़ता है राग रूक्षता में बदल जाता है। दूसरे शब्दों में बात करें तो राग अतृप्ति प्रदायक है। अतृप्ति में रूक्षता छिपी रहती है।

अध्यात्म की दृष्टि से, आगम की दृष्टि से विचार करेंगे तो वहाँ संयम को रूक्ष माना है। क्योंकि उसमें मोह की मंदता हो जाती है। वह विवक्षा भिन्न है। राग की प्रकृति को जो रूक्ष कहा गया है वह अतृप्तिकारक होने से। राग-मोह आत्मा को रूक्ष बनाता है। आत्मीय भाव-मैत्री-वात्सल्य का भाव उससे मंद हो जाता है, इस दृष्टि से भी उसे रूक्ष मानना असंगत नहीं है। राग में माया व लोभ को लिया गया है। माया का परिणाम मित्रों का नाश होना-मित्रता का नाश होना माना है व लोभ का परिणाम सर्व विनाशक कहा गया है, इससे भी राग की रूक्षता को समझा जा सकता है।

राग की रूक्षता व संयम की रूक्षता में बहुत बड़ा अन्तर है। राग की रूक्षता व्यक्ति में चिड़चिड़ापन पैदा करती है। व्यक्ति को अभाव-अभाव सा प्रतीत होता रहता है जबकि संयम की रूक्षता उसे बल देने वाली होती है। उससे उसके भीतर पवित्र भावों का संचार होता है। उससे कर्मों की निर्जरा होती है। राग की रूक्षता कर्म बंधाने वाली होती है।

## अनन्यदर्शी आचार्य श्री नानेश

**श्री** मदाचाररांग सूत्र में कहा गया है- '**जे अणण्णा दंसी से अणण्णा रामे**' जो अनन्य दर्शी होता है, वह अनन्य में रमण करता है। जो अनन्य में रमण करता है, वह अनन्य दर्शी होता है। दुनिया के समग्र पदार्थ जो अपने से भिन्न हैं वे अन्य हैं। अन्य यानी दूसरा। अनन्य अर्थात् स्वयं। जो स्वयं में रमण करता है, जो स्वयं में स्थित रहता है, जो स्वयं को देखता है वह खुशहाल रहता है। दूसरों को देखना, दूसरों की तरफ देखना हमारी खुशहाली को नष्ट करना है। यदि दूसरे को अपने से उत्कर्ष में देखा जायेगा तो हीन भाव बनेंगे। मन में टीस पैदा होगी। अंदर ही अंदर वह वेदना उसे सालती रहेगी। यदि अन्य को अपने से हीन देखेंगे तो मन उत्कर्ष से, गर्व से भरेगा। मैं दूसरों से श्रेष्ठ हूँ, ऊँचा हूँ। मेरे में ये अमुक विशेषताएँ हैं जो अन्यो में नहीं हैं। इस प्रकार का उत्कर्ष या पूर्व प्रकार की हीनता दोनों ही जीवन के लिए घातक है। दोनों से आत्म गुणों का हनन होता है। दोनों ही स्थितियों से आत्मानन्द खिसकने लगता है। अतः शास्त्र हमें कहता है स्वयं में स्थित होओ। स्वयं को देखो। जब अन्य कोई विचार सरणी में होगा ही नहीं तो व्यक्ति तुलना किससे करेगा? जब तुलना ही नहीं होगी, हीन-उत्कर्ष के भाव भी पैदा नहीं होंगे। परिणामस्वरूप आत्मानंद यथावत बना रहेगा।

आचार्य पूज्य गुरुदेव श्री नानालालजी म.सा. अनन्यरामी थे। वे अपनी शानी के एक ही थे। उनका ज्ञान, दर्शन, चारित्र, संयम, सोच, प्रज्ञादि सब अनन्य थे। आज उनकी जन्म जयंती है। आने वाले समय में (2020) में उनके जन्म को सौ वर्ष पूरे होने वाले हैं। यानी जन्म शताब्दी। वह भी अनन्य रूप से आयोजित हो, आरंभ-समारंभ के बजाय अधिक से अधिक ज्ञान-दर्शन-चारित्र की आराधना अभिप्रेत है। उसके अनेक आयाम दिये गये हैं व आने वाले समय में भी संभव है।<sup>1</sup>

1. आयामों को बहुत अच्छी स्वाकार्यता मिलती है। हजारों लोगों ने उन्हें अपनाया, अध्यात्म जीवन शैली को स्वीकार किया है। - प्रकाशक

## श्रद्धा के आँख एक

श्रद्धा के लिए आँख का निर्दोष होना जरूरी है। जब आँख दोष देखती है या दोष दिखाने लगती है तो वहाँ से श्रद्धा खिसकने लगेगी। श्रद्धा और दोष दर्शन एक स्थान पर रह नहीं सकते। यदि जबरन रखने का प्रयत्न होगा तो वहाँ श्रद्धा तो रहेगी नहीं पर द्रुन्द्र अवश्य पैदा हो जायेगा। दो विपरीत विचारों के मिलने से द्रुन्द्र ही पैदा हो सकता है। श्रद्धा का अर्थ है-गुणात्मक दृष्टि। वह गुणों को देखती जायेगी। यदि कुछ अवगुण भी होंगे तो भी श्रद्धा नहीं देख पायेगी। श्रद्धा को अवगुण दिखेगा ही नहीं। मेटल डिटेक्टर, मेटल को ही ग्रहण करता है। अन्य उसके लिए ग्राह्य नहीं है। वैसे ही श्रद्धा मात्र गुणों को ही देख पाती है। श्रद्धा यानी एकाक्षी। श्रद्धा एक आँख वाली होती है। वह एक तरफ ही देखती है। कहा जा सकता है कि इस प्रकार एक तरफा देखना तो पक्षपात होगा। उसे निष्पक्ष कैसे माना जा सकता है, जबकि श्रद्धा को निष्पक्ष माना जाता है। माना जाता है कि वह सत्य तथ्य ग्राही होती है। जो जैसा है उसे वैसा ही देखती है। श्रद्धा का स्वभाव यदि ऐसा है- इस प्रकार का है तो वह अवगुण को अवगुण के रूप में कैसे नहीं देखेगी? उसे अवगुणों को भी देखना चाहिये अथवा उसे अवगुण भी दिखने ही चाहिये। उपर्युक्त तर्क अपने स्थान पर महत्वपूर्ण है। उसका उत्तर यह है कि श्रद्धा उद्देश्य को देखती है। उद्देश्य यदि सही है तो विपरीत परिणाम के बावजूद वह गुण है, अवगुण नहीं। जैसे एक डॉक्टर मरीज का ऑपरेशन कर रहा था, उसका लक्ष्य मरीज को रोग मुक्त करना था पर मरीज रोग मुक्त नहीं हो पाया, देह मुक्त हो गया। इसमें डॉक्टर का उद्देश्य सही था अतः वह गुणरूप होगा। श्रद्धा उस उद्देश्य को देखती है। देव-गुरु धर्म पर श्रद्धा गुणात्मक ही होती है। गुरु भी छद्मस्थ होते हैं। उनमें कुछ कमियाँ निश्चित होंगी लेकिन उनका उद्देश्य सही है। वे उद्देश्य के अनुसार चल रहे हैं तो श्रद्धा उनके उद्देश्य रूप गमन का ही अनुगमन करती है। अतः श्रद्धा के लिए आँख का निर्दोष होना जरूरी है अथवा निर्दोष आँख से ही श्रद्धा हो पायेगी।

## स्वभाव प्राप्ति के सूत्र

राग-द्वेष आत्मा का स्वभाव नहीं है। कषाय-आत्मा का स्वभाव नहीं है। क्रोध से कार्य बिगड़ है। अहंकार ने दूसरों से दूर हटाया है। माया ने मन को कमजोर किया है। लोभ ने सर्वस्व लूटने का प्रयत्न किया है। राग ने रोग दिया, द्वेष ने दासता। फिर भी आत्मा इन्हें छोड़ नहीं पाती। आत्मा इनसे छूट नहीं पाती, इसका कारण भूतकालीन संस्कार है। यदि तटस्थ भाव से अनुप्रेक्षा करें तो इनसे आत्मा को लाभ कभी नहीं हुआ। हानि हर बार हुई है। इनसे आत्मा हताश हुई है। निराश हुई है। आत्मा स्वयं के अस्तित्व को भुला कर हीन भावों की सर्जिका हुई है। मैत्री भाव जो आत्मा का मौलिक गुण है, उसका हास हुआ है। इनसे निजात पाने के लिए आत्मा को ही प्रयत्न करना होगा। इसके लिए कुछेक बिन्दु विचारार्थ प्रस्तुत हैं-

(1) अन्यों से स्वयं को निरपेक्ष बनाओ। (2) पर दोष देखने की वृत्ति न हो। (3) अन्यों से अपनी तुलना न की जाय। (4) अन्य क्या कर रहा है, उसे देखने के बजाय स्वयं को क्या करना, उसे लक्षित किया जाय। (5) स्वयं में संतुष्ट रहना। (6) आकांक्षा को सीमित करना। (7) कुतूहल न हो। (8) जब भी किसी पदार्थ आदि के लिए 'यह मेरा है' ऐसा भाव बने तो उसे तत्काल 'इदं न मम' यह मेरा नहीं है, कहते हुए उस पर से मेरेपन का भाव दूर करना। (9) नदी-नाव संयोग रूप भाव से जीना। यानी तटस्थ-माध्यस्थ भाव से जीएं। इस प्रकार के निरन्तर चिन्तन-मनन से विभाव को दूर करने का सामर्थ्य जगेगा। विभाव आत्मा पर हावी नहीं हो सकेंगे। जैसे मालिक जागृत हो तो चोर के पैर कच्चे पड़ जाते हैं, वैसे ही आत्मा के जागृत रहने पर विभाव शिथिल पड़ जाते हैं। उनका जोर चल नहीं पाता।

विभाव को दूर करने के लिए एक और मार्ग है। वह है स्वभाव को विकसित करना। मैत्री भाव बढ़ाना। क्षमा भाव का असेवन करना। निर्वेद व अकषाय की भावना को पुष्ट करना। वसुधैव कुटुम्बकम् की भावना को विकसित करते रहना। अनित्यादि भावना से स्वयं को भावित करना।



## अपराध वृत्ति का उपचार

**ना**म-प्रतिष्ठा-यश का भय भी व्यक्ति को बना रहता है। व्यक्ति कितना भी सावधान रहे फिर भी कहीं न कहीं, कुछ न कुछ स्खलनाएं हो ही जाती हैं। वह नहीं चाहता कि उसकी गलतियाँ उजागर हों और उसके यश-कीर्ति-पद-प्रतिष्ठा में धब्बा लगे। यद्यपि गलती यदि प्रकट हो जाती है तो उसे दूर होने का भी अवसर मिलता है। लेकिन मन इतना कमजोर होता है कि वह अपनी गलती को प्रकट होने नहीं देता। उसकी गलती उसको सालती भी रहती है। वह उससे तनावग्रस्त भी होता है पर जो गलती हो चुकी है वह लोगों में जाहिर हो जाय, यह वह बर्दाश्त नहीं कर पाता। यह स्थिति मन को अन्दर ही अन्दर कमजोर करती रहती है। वही स्थिति धीरे-धीरे भय का रूप ले लेती है। वह भीतर ही भीतर भयभीत होता रहता है। कहीं बात बाहर आ गई तो मेरी पोजीशन डाउन हो जायेगी। उस समय लोगों में क्या-क्या प्रतिक्रियाएँ होंगी? उनको क्या समाधान दिया जा सकेगा आदि। जैसे फोड़े में पड़ी मवाद दुःखती रहती है वैसे ही उसके भीतर पड़ी गलती मवाद का रूप ले दुःखती रहती है। यह भी स्पष्ट है कि कभी न कभी फोड़ा फूटेगा तो मवाद निकलेगा ही, पर व्यक्ति सोचता है जब तक चले चलने दिया जाय। फोड़ा फूटे नहीं। वह उसे संवार-संवार कर रखता है। व्यक्ति को सोचना चाहिये कि रोज-रोज दर्द सहने के बजाय फोड़े को दबाकर मवाद बाहर कर दे, ताकि रोज-रोज उसकी कसक नहीं सहनी पड़े। गलती हो जाना असंभव नहीं है। बड़े-बड़े ज्ञानी पुरुषों से भी प्रमाद वश अथवा कर्म योग से स्खलना हो जाती है। फर्क इतना है कि ज्ञानी उसे पालते नहीं। उसकी आलोचना गर्हा कर लेते हैं। सामान्य व्यक्ति उस प्रकार की हिम्मत जुटा नहीं पाने से परेशान होते रहते हैं तथा स्वयं को कमजोर बनाते रहते हैं। बड़े से बड़े अपराध का भी प्रायश्चित्त होता है। अपराध वृत्ति को भविष्य में नहीं पनपने देना, यही उसका समुचित उपाय है।

## हाथ न जले

**व्यक्ति** को नीतिज्ञ होना चाहिये। नीतिज्ञ का अर्थ चालबाज होना नहीं है। नीतिज्ञ का अर्थ होता है द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव को जानकर यथा योग्य व्यवहार करना। कहीं झुकना भी पड़ता है तो कहीं आँख भी दिखाना पड़ता है। झुकना कहाँ व कहाँ आँख दिखाना, इसका समुचित प्रयोग करने की कला का ही अपर नाम नीतिज्ञ है। नीति में कहीं-कहीं विषय के अनुरूप झटपट निर्णय करना होता है तो कहीं टालने की बात भी होती है। नीतिज्ञ व्यक्ति की पहचान यह है कि वह बहती हवा में स्वयं को नहीं बहाता। वह अपनी सूझबूझ से विषय पर चिन्तन करता है। लोग उकसाने वाले कई होते हैं। उनका काम ही वातावरण को क्षुब्ध करना होता है, किन्तु नीतिज्ञ उससे क्षुब्ध नहीं होता। उदाहरण के तौर पर भारत-पाक का विषय लिया जा सकता है, जहाँ आए दिन युद्ध के लिए उकसाने वाले बयान आते रहते हैं। ऐसे-ऐसे बयान आते हैं कि खून खौल जाय, पर नीतिज्ञ ऐसे वातावरण में भी अपना संयम खोते नहीं हैं। युद्ध की त्रासदी को वे देखते हैं, युद्धोन्माद एक बात है पर उसकी त्रासदी से उबर पाना बड़ा कठिन काम है। यह तो एक विषय है जिसे उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया गया है। नीतिज्ञ तथ्य की गहराई तक जाने का प्रयत्न करते हैं। अन्यथा उनके लिए यही कहा जायेगा-

**बिना विचारे जो करे सो पीछे पछताय।  
काम बिगाड़े आपनो जग में होत हँसाय।।**

नीतिज्ञ एक कदम भी धरता है तो सोच समझ कर धरता है। वह उससे होने वाले हानि-लाभ को देखता है। सामान्य लोग तात्कालिक हानि-लाभ देखते हैं, जबकि नीतिज्ञ दूरगामी परिणामों पर अपनी दृष्टि को केन्द्रित करते हैं। नीतिज्ञ को कहीं-कहीं कूटनीति का प्रयोग करना होता है। वह कूटनीति भी नीति का ही एक हिस्सा है। जहाँ तात्कालिक कोई समाधान की गुंजाइश न हो तो वहाँ कूटनीति कारगर होती है। तुरत-फुरत की नीति से एक बार चाणक्य भी मात खा गया था। अतः गर्मा-गर्म भी खाएँ तो ध्यान रखा जाय कि हाथ न जले।

## सफलता के लिए उद्यम

एकसीडेंट के भय से सफर नहीं छोड़ा जा सकता। भूकम्प के भय से नये निर्माण को रोका नहीं जा सकता। ठोकर के भय से चलना रुक नहीं सकता। चुनाव हार जाने के भय से चुनाव में खड़ा होना छोड़ा नहीं जाता। मरीज का ईलाज गलत न हो जाय इस भय से डॉक्टरी बंद नहीं की जाती। कोर्ट में हारने के भय से एडव्होकेट (वकील) केस लेना बंद नहीं करता। तलाक के भय से शादी रचाना बंद नहीं हो गया। हाथ जलने से भय से खाना बनाना छूट नहीं गया। अजीर्ण के भय से खाना बंद नहीं हो गया। उधारी डूब जायेगी, इस भय से बैंक लोन-कर्ज देना बंद नहीं कर देती। व्यापार में घाटा लग जाने के भय से उसमें पैसे-धन लगाना बंद नहीं होता। ऐसे अनेक उदाहरण प्रस्तुत किये जा सकते हैं जहाँ असफलता का भय है पर व्यक्ति को जब जो करना होता है, करता ही है। अतः असफलता के भय से कुछ किया ही न जाय, यह सोच सही नहीं है। जब मृत्यु, हार व असफलता आदि के प्रसंग सामने दिखते हुए भी व्यक्ति कर्महीन नहीं होता, वह उद्यम करता ही है जैसे ही कर्म प्रधान व्यक्ति को सोचना चाहिये कि मुझे मेरा कर्म करना है। लोग उसे अच्छा कहें या बुरा, उससे मुझे कोई लेना-देना नहीं। मुझसे जो हो सके वो मुझे करना है। बल्कि अपनी शक्ति को और बढ़ाना है। आज जितना कर पा रहा हूँ, कर रहा हूँ, कल उससे और अधिक करने का प्रयत्न करूँगा। बिना चले जैसे मंजिल नहीं मिलती जैसे चुपचाप बैठ जाने से सफलता नहीं मिल जाती। सफलता को पाने के लिए उद्यम के द्वार खोलने होंगे। उद्यम के द्वार खुलेंगे तो सफलता उसमें से होती हुई हमारे तक पहुँच पायेगी। नीति में भी कहा गया है -

**“उद्यमेन ही सिध्यन्ति कार्याणि न मनोरथैः”**

सक्षिप्त में कहें तो ऐसा कोई कार्य नहीं है जो व्यक्ति न कर सके। करने का जज्बा हो, प्रबल इच्छा शक्ति हो व तौर-तरीके जानता हो तो प्रत्येक कार्य को करने का सामर्थ्य इनसान में मौजूद है।

## प्रज्ञा-पथ को परिष्कृत करें

सूर्य प्रकाशवान है, दीपक रोशनी देता है पर आँख वाले को। यदि आँख ही न हो, आँख में ही रोशनी न हो तो एक सूर्य क्या हजारों सूर्य भी उसे प्रकाश नहीं दे सकते। शास्त्रों में ज्ञान भरा है पर प्रज्ञा स्वयं की काम आती है। यदि व्यक्ति प्रज्ञा हीन हो, अल्प प्रज्ञा वाला हो तो शास्त्र क्या करेगा? नीतिकारों ने भी कहा है-

**यस्य नास्ति स्वयं प्रज्ञा शास्त्रं तस्य करोति किम् ?**

प्रज्ञा हो तो ज्ञान रूपी प्रकाश ग्रहण किया जा सकता है। प्रज्ञा प्रकाश ही न हो, प्रज्ञा रूपी आँख ही न हो तो शास्त्र एवं शास्त्रकार-गुरु भगवन्त भी किसी को क्या दे सकते हैं? अर्थात् नहीं दे सकते। वे प्रज्ञाशील बनने का रास्ता दिखा सकते हैं, उस पर चलना स्वयं को होगा। यदि स्वयं चलने को तैयार न हो तो रास्ता दिखाया हुआ भी क्या काम आ सकता है। वह उस व्यक्ति के लिए कोई लाभ नहीं दे सकता।

मुहूर्त आकाश में आता है। साधना व्यक्ति को होता है। व्यक्ति प्रज्ञाशील हो तो मुहूर्त को साध लेता है अन्यथा मुहूर्त आकाश में आया और चला गया। पुरोहित ने मुहूर्त साधा था पर उसकी पत्नी-पुरोहिताइन प्रज्ञाशील नहीं थी, परिणामस्वरूप जवारी के मोती नहीं बना पाई, लेकिन पुराहित की पड़ोसन प्रज्ञा-सम्पन्न थी उसने लाभ उठा लिया। उसने जवारी के मोती बना लिये।

स्वर्ण सिद्धि आदि कई ग्रन्थ हैं, कई सिद्धियां हैं। क्या हर इनसान उन सिद्धियों को साध पाते हैं? उत्तर होगा नहीं, जैसे ही आगम में अथाह ज्ञान राशि है पर लेने वाले का सामर्थ्य कितना है? बिना सामर्थ्य के अथाह ज्ञान राशि से वह कैसे स्वयं को लाभान्वित कर पायेगा? अपनी प्रज्ञा को प्रवीण बनाने का प्रयत्न होना चाहिये। अपनी प्रज्ञा को यदि सही बना लिया तो प्रत्येक अक्षर, घटना, पदार्थ, ज्ञान देने वाले बन जायेंगे। ज्ञान प्रज्ञा के द्वार से ही तो प्रवेश हो पायेगा। इसलिए प्रज्ञा पथ को परिष्कृत करो, ताकि ज्ञान उसमें प्रवेश पा सके।

## संत निष्पक्ष ही रहे

**सं**त जीवन निर्मल, पवित्र होता है, क्योंकि वह निष्पक्ष होता है। उसे न किसी से कुछ लेना होता है न देना। वह अपनी मस्ती में रहता है। अपने जीवन का राजा होता है। किन्तु जब संत स्वार्थ आदि के कारण पक्ष-विपक्ष खड़ा कर लेता है, किसी एक पक्ष की तरफ अपना नजरिया बना लेता है तो वह संत जीवन को लज्जित करने की स्थिति में आ जाता है। संसार में दुनियावी लोगों में पक्ष-विपक्ष चलता ही रहता है। धर्म भावों में चलने वालों में पक्ष-विपक्ष नहीं होता है या नहीं होना चाहिये किन्तु वर्तमान युग में धर्म की औपचारिकताओं का वहन करने वाले लोग ज्यादा होते हैं। ऊपर से धर्म का लबादा ओढ़े रहना, अन्दर में पक्ष-विपक्ष चलाते रहना, सामान्य बात हो गई है। बहुत कम अंशों में ऐसे लोग होंगे जो स्वयं को पक्षापक्ष से अलग रख पाते हैं। पक्षापक्ष मुख्य रूप से धर्म के अग्रगण्यों में आता है क्योंकि उनका ईगो परस्पर टकराता है। उनके ईगो के टकराने से निकलने वाली चिनगारियां संघ के अन्य लोगों को भी प्रभावित करती हैं। ऐसा पक्षापक्ष जहाँ भी हो संतों को वहाँ सविशेष ध्यान रखना चाहिये। उनके पक्षापक्ष की चिनगारियां कहीं संत जीवन को प्रभावित न कर दे। कुछ संतों का भी ऐसा लक्ष्य रहता है कि कोई काम अटक रहा हो तो कुछ ऐसी बातें की जाय जिससे पक्षापक्ष उभरे व उस पक्षा-पक्ष की गर्मी से उनकी रोटियाँ सिक जाय। पर यह वृत्ति संत जीवन की घातिका है। इससे स्पष्ट झलक यह मिलती है कि संत जीवन में जो रमण होना चाहिये वह अभी नहीं हो पाया है। संत का जीवन इतना सध जाय कि पक्षा-पक्ष के किनारे पर बैठा हो तो भी उसका प्रभाव उसे प्रभावित न कर सके। पक्षा-पक्ष के स्थान पर वह स्वयं को पूर्ण रूप से तौलकर चलता है। प्रत्येक पक्ष वाले को लगे की संत हमारे पक्ष में हैं। किसी को ऐसा नहीं लगे हमारे विपक्ष में हैं। लोग भले ही समझें कि संत हमारे पक्ष में हैं लेकिन संत को चाहिये कि वह निष्पक्ष ही रहे।

## खुशहाली के पाँच सूत्र

**सा**धनों से न सुख मिल सकता है न समाधि। यदि साधनों से सुख व समाधि मिलने लगे तो साधनों की सम्पन्नता वालों को सुखी हो जाना चाहिये। उन्हें सुखी ही रहना चाहिये पर उन्हें दुःखी देखा जाता है। जबकि ऐसे व्यक्ति भी दृष्टिगत होते हैं, जो साधनों की दृष्टि से विपन्न होते हुए भी खुशहाल जीवन व्यतीत करते हैं। अतः सुख-समाधि-खुशहाली आदि के लिए बाह्य साधन अनन्तर कारण नहीं है। अनन्तर कारण व्यक्ति के सोचने का तरीका ही हो सकता है। सोचने का तरीका यदि सही है तो अनेकविध अभावों के बीच भी व्यक्ति खुशहाल रह सकता है अन्यथा बहुविध साधन भी उसे प्रसन्नता नहीं दे पाते। खुशहाल जीवन जीने के कुछ टिप्स हैं, उन पर अमल करने से अत्यधिक संभावना है, व्यक्ति स्वयं को हर परस्थिति में संतुलित रख सकता है। खुशहाल रह सकता है एवं जीवन जीने का आनन्द उठा सकता है। वे टिप्स कुछ इस प्रकार हो सकते हैं-

- (1) **प्रतिक्रिया से बचें**-प्रतिक्रिया एक प्रकार का मानसिक रोग है, जो अहंकार से निष्पन्न होता है। प्रतिक्रिया में सत्यासत्य का विवेक प्रायः गौण हो जाता है।
- (2) **आत्म प्रशंसा से बचें** - आत्म प्रशंसा भी एक अध्यात्म दोष है। इसमें व्यक्ति स्वयं को श्रेष्ठ मानता है। वह दूसरों के गुणों को स्वीकार नहीं कर सकता। गुणमय व्यक्ति भी उसे सदोष ही नजर आता है।
- (3) **वाचालता से बचें**- वाचालता भाषागत दोष है, किन्तु यह दोष जीवन के सुख को, खुशहाली को छीनने वाला है। वाचाल व्यक्ति अविश्वसनीय होता है। लोग उस पर सहसा विश्वास कर नहीं पाते।
- (4) **सकारात्मक सोच विकसित करें**- पृथ्वी काँटों से भरी हुई हो सकती है। उसे देख व्यक्ति प्रतिक्रिया कर सकता है, नकारात्मक प्रभाव पैदा हो सकते हैं पर सकारात्मक सोच अपने पैरों में जूते पहन स्वयं को खुशहाल रखती है।
- (5) **क्रियावती शक्ति को जगाएं** - केवल सोच ही नहीं सम्यक् सोच का क्रियान्वयन करें।

## सच्चे धर्म का स्वाद

काँच

काँच का टुकड़ा हाथ लग जाने पर नादान-अनजान व्यक्ति हर्षित होता है, इधर-उधर लोगों को दिखाता हुआ गर्वोन्नत होता है कि उसे बहुमूल्य हीरा प्राप्त हुआ है। तत्सदृश लोग भी उसके भाग्य की सराहना करते हैं। उस व्यक्ति की जब जौहरी से मुलाकात होती है, अपने पास वाले हीरे-काँच के टुकड़े को उसे दिखाता है। जौहरी से जब यथार्थ ज्ञात होता है तो उसका नूर टण्डा पड़ जाता है। उसे हीरे का मूल्य प्राप्त नहीं होता। इसी प्रकार किसी एक व्यक्ति को हजार-हजार रुपये के नोटों की गड्डी प्राप्त हुई। वह अपने भाग्य की सराहना करने लगा पर जब उसे बाजार में ले गया तो उसका मूल्य मिला ही नहीं। नोट नकली थे। ठीक ऐसे ही उपचरित धर्म से कोई अपने को आनन्दित करना चाहे तो उसे सच्चा आनन्द प्राप्त नहीं हो सकता। जैन कुल में जन्म लेने मात्र से कोई स्वयं को धर्मात्मा मान बैठे तो यह उसकी भूल होगी। काँच के टुकड़े की प्राप्ति से होने वाली खुशहाली के समान ही उसकी खुशहाली होगी।

सच्चे धर्म की आराधना से जो आनन्द उपलब्ध होता है वह, स्वयं को धर्मात्मा मान लेने मात्र से नहीं हो सकता। धर्म, न क्रियाओं में है, न ही वस्त्रों में। धर्म है भावों में। क्रियाएँ इसलिए की जाती हैं कि भावों की विशुद्धि बने। भावों से राग-द्वेष हटे, उपचरित धर्म से अथवा धर्म कुल में जन्म लेने मात्र से व्यक्ति उपशमित कषाय वाला हो जाय यह संभव नहीं है। वह अवस्था तो तब आयेगी जब दृष्टिकोण वैसा बनेगा। दृष्टिकोण वीतरागता का बने। मुझे वीतराग बनना है। उसी लक्ष्य से उसे व्यवहार वर्तन करना चाहिये। तब वह धर्म के प्रभाव को जान पायेगा कि उससे कैसा उसे अनुभव होता है। निश्चित रूप से तनाव से उसे मुक्ति मिलेगी। उसका जीवन शान्त सहज बन पायेगा। उसकी चर्या स्वान्तः सुखाय का अंग बन जायेगी। असली घी व डालडा के स्वाद में फर्क होगा ही। वह फर्क वही जान सकता है, जिसने असली घी खाया है। जिसने कभी असली घी खाया ही नहीं, वह उसका स्वाद व उससे होने वाले लाभ को क्या जान पायेगा। वैसे ही सच्चे धर्म से होने वाले अनुभव को भी तभी जाना जा सकता है जब उसकी आराधना हो सके।

## श्रावक तेरी क्या पहचान ?

साधु

साधु जीवन की पवित्रता के लिए साधु को तो सावधान रहना ही चाहिये, श्रावक वर्ग को भी जागरूक रहना जरूरी है। साधु को भी चाहिये कि वह आत्मा की पवित्रता का लक्ष्य रखता हुआ यथा प्रसंग श्रावक जीवन की शुद्धि कैसे रहे उसका बोध भी श्रावक को दे। श्रावकत्व में चुस्त रहने के लिए सिद्धांत का ज्ञान जरूरी है। यदि ज्यादा न भी हो तो नवतत्व का ज्ञान तो होना चाहिए। साधु की कल्प मर्यादा व श्रावक की जीवन शैली का ज्ञान जरूरी है। यदि उक्त ज्ञान नहीं होगा तो साधु जीवन की पालना निर्दोष रूप से हो पाना अशक्य हो सकती है। साथ ही श्रावक अपना जीवन भी निर्दोष रूप से पाल नहीं पायेगा।

भौतिकी के युग में श्रावक धर्म-कर्म भूल रहा है। उसे पद, पैसा और प्रतिष्ठा तीन की ही जरूरत समझ में आ रही है। उसे पाने के लिए ही वह अपनी शक्ति का उपयोग कर रहा है। उसे समझना चाहिये कि वह जो कर रहा है वह सही नहीं है। परिवार निर्वाह के लिए धन की अपेक्षा को नकारा नहीं जा सकता, लेकिन वह जीवन का मुख्य ध्येय नहीं है। धर्म और धन दो विकल्प यदि उसके सामने प्रस्तुत किये जायें तो उसे धर्म विकल्प को ही स्वीकार करना चाहिये। जैसा कि अर्हन्नक आदि श्रावकों ने चयन किया। उन्होंने धर्म को ही जीवन का महत्वपूर्ण क्षण माना। उनकी सोच थी तन जाए तो जाए, धन जाए तो जाए पर मेरा धर्म कभी ना जाए। दूसरे शब्दों में कहें तो जीना है तो धर्म के लिए और मरना है तो धर्म के लिए। धर्म हमारा प्राण है, वह जीवन का आधार है। कहने का आशय जीवन की हर चर्या का आधार धर्म हो। रोम कूपों में से एक ही ध्वनि ध्वनित हो धर्म ! धर्म ! धर्म ! इसके अतिरिक्त अन्य कोई ध्वनि वहाँ से प्रकट ही न हो। इस प्रकार से श्रावक का जीवन पूर्ण धर्ममय होना चाहिये। उसकी वृत्ति भी नीति और धर्म से अनुरंजित ही होनी चाहिये।



## कषाय की ओट में धर्मानन्द

पेट खराब हो तो उसका असर जीभ पर भी आता है। मलेरिया, ज्वरादि के समय भी जीभ का स्वाद बिगड़ जाता है, जिससे खाद्य वस्तुओं का सही स्वाद नहीं आ पाता। उन वस्तुओं का स्वाद नहीं बिगड़ा होता है, बिगड़ा व्यक्ति के जीभ का स्वाद है। अतः यदि उन पदार्थों का वास्तविक स्वाद पाना है तो अपनी जीभ को ही ठीक करना होगा। जीभ यदि ठीक हो जायेगी तो पदार्थों का स्वाद जैसा है, वैसा उसे अनुभूत हो पायेगा। ठीक इसी न्याय से धर्म के स्वाद या अनुभूति को जाना जा सकता है। कषाय-क्रोध-मान-माया-लोभ के कारण व्यक्ति का मानस तंत्र अव्यवस्थित बना हुआ है, जिससे धर्म की वास्तविक अनुभूति नहीं हो पाती। धर्म का शुद्ध स्वाद नहीं आ पाता। मुंह में नमक की डली रखी हो, उसी के साथ मिश्री की डली भी रख लें तो मिश्री का शुद्ध स्वाद कैसे आ पायेगा? इसलिए धर्माराधना के पूर्व कषायों को उपशमित करना होता है। कषाय शमित होते हैं तो धर्म का स्वाद आ जाता है। बादलों की ओट से जैसे सूर्य का प्रकाश मंद पड़ जाता है, वैसे ही कषायों की ओट से धर्म की ज्योत्सना फीकी पड़ जाती है। पाइप में गांठ पड़ जाय तो उसमें से प्रवाहित होने वाला पानी वहीं आकर अटक जाता है। कॉलिस्ट्राल के कारण धमनियों में खून का प्रवाह अवरुद्ध हो जाता है। वैसे ही कषाय व विषयासक्ति से धर्म का स्वाद अनुभूत नहीं हो पाता। धर्म से प्राप्त होने वाला आनन्द वहीं अटक जाता है। वैचारिक द्वन्द्वता भी उस आनन्द की अवरोधिका है। अतः धर्माराधना के पूर्व मानस पटल को ऋजुभूत बनाने का सफल प्रयत्न होना चाहिये। शुद्धि ऋजुभूतता से ही होती है। जैसा कि कहा गया है - **“सोहिउज्जुय भुयस्स; धम्मो शुद्धस्स चिड्डी”** शुद्धावस्थान में ही धर्म अवस्थित हो पाता है। गर्म तवे पर पानी की बूंदें टिकती नहीं हैं, लेकिन तवा जब ठण्डा हो जाता है तो पानी उस पर लबालब भर जायेगा। कषायों के ताप से मन जब तक सन्तप्त रहता है तब तक धर्मरूपी जल की बूंदें वहाँ नजर ही नहीं आतीं पर कषायों का ताप शान्त होने पर धर्म वहाँ पर लबालब भरा मिल जायेगा।

## आत्म-रक्षा के तीन भेद

खतरे का सायरन बजने लगे तो लोगों में अफरा-तफरी मचने लगेगी। लोग भागकर सुरक्षित स्थान पर पहुँचना चाहेंगे। अपना जीवन सभी को प्रिय लगता है। सभी जीव जीना चाहते हैं, मरना नहीं। यद्यपि मृत्यु उनके हाथ में नहीं होती, फिर भी मृत्यु से बचाव करने का प्रयत्न करते ही हैं। जीवन को सही रूप से जीने का अभ्यास करने वाले बहुत कम लोग होंगे। यदि सही रूप से जीना सीख लें तो मृत्यु के लिए इधर-उधर भागकर आत्म-रक्षा करने की नौबत ही नहीं आए। स्पष्ट है- व्यक्ति न तो जीवन ही जीना जानता है और न मरण को वरण करना ही। जीवन जीना एक कला है तो मरण उससे भी बढ़कर कला है। बचाव करने से मृत्यु टल नहीं जाती, लेकिन बचाव किया जाता है। जैसे आत्म-रक्षा की जाती है, उसमें शरीर रक्षा का मान मुख्य होता है। शरीर रक्षा से भी बढ़कर आत्म-रक्षा का लक्ष्य रखना चाहिये।

आत्म-रक्षा के दो रूप हैं- पहला मन की रक्षा, दूसरा भावों की रक्षा। उक्त दोनों प्रकार की रक्षा आत्म-रक्षा है। मन की रक्षा का तात्पर्य है- मन को विषयों के प्रति अनुरक्त नहीं होने देना। पाँच इंद्रियों के विषय जब मन पर हावी होने लगते हैं तो वे उसे नचाने लगते हैं। मन चंचल हो जाता है। उसमें विचलन पैदा हो जाती है। ऐसा न हो यही मन की रक्षा है। भावों में कषायों का उद्रेक न हो। विषय से जब मन अनुरक्त हो जाता है वह उसे उपलब्ध नहीं हो पाए तो कषाय का उद्रेक होने लगता है। उद्रेक प्राप्त कषाय भावना को दूषित करने लगते हैं। उसमें क्रोधादि प्रदूषण पलने लगते हैं। ईर्ष्या-द्वेष के घुन भावों में लगने लगते हैं। भावों की विशुद्धि रह नहीं पाती। मलिन भाव पाप-कर्माश्रय के हेतु बन जाते हैं। उसमें जीव पाप कर्म उपार्जन करने लगता है। उससे आत्मा भारी कर्मा बनता जाता है। अतः शरीर से भी बढ़कर मन एवं भाव रूपी आत्म-रक्षा पर विशेष ध्यान दिया जाना चाहिये। जब भी कषाय उद्रेक होवे उन्हें निष्फल करने का प्रयत्न हो। कहीं 'बम' पड़ने की बात सुनी जाती है तो उसके नहीं फटने पर 'बम निरोधक दस्ता' उसे निरस्त करता है। वैसे ही क्रोधादि को निरस्त करने का लक्ष्य रखना चाहिये।

## कलम की नोक से सत्यार्थ प्रकटे

**क**लम की नोक स्वांतःसुखाय भाव से गतिशील होनी चाहिये अन्यथा कलम की नोक भयंकर अपराधी बना सकती है। कुणाल के लिए लिखे गये पत्र ने कुणाल की आँखें ले ली। उसमें कलम की नोक की ही करामात थी। पूज्यश्री अम्बालालजी म.सा. का अभिनंदन ग्रंथ इन दिनों दृष्टि में आया। उसमें श्री सौभाग्य मुनिजी कुमुद द्वारा पूज्य मोतीलालजी म.सा. आदि के जीवन वृत्त को उकेरा गया है। उसमें एक जगह उपाचार्य पूज्य श्री गणेशलालजी म.सा. का भी प्रसंगोपात कथन आया। पर लिखावट से ऐसा झलकाया गया है कि पूज्य उपाचार्य श्री गणेशलालजी म.सा. लाल-पीली पगड़ी वालों के चक्कर में पड़ गये। ऐसा झलकाना मुनिश्री की अन्तर भावना को झलकाता है कि वे कैसी विचारधारा को लेकर चल रहे हैं। मुनिश्री को यह तो ध्यान में ही होगा कि आचार्य श्री गणेशलालजी म.सा. को कितनी मनुहार से उपाचार्य बनाया गया था। क्या मनुहार करने वाले होश-हवाश में नहीं थे? क्या वे उपाचार्य श्रीजी म.सा. के जीवन से अपरिचित थे? यदि नहीं तो क्या उनका निर्णय भावुकता भरा था? मनुहार करने वाले भी एक-दो मुनि पुंगव ही नहीं थे बल्कि अनेक मुनिराजों का आग्रह था। उस प्रेम आग्रह को नहीं टाल पाने से उन्हें मौन रह जाना पड़ा। आचार्य श्री गणेशलालजी सूझबूझ के धनी थे। द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव के ज्ञाता थे। गीतार्थ थे। उनकी सूझबूझ का ही परिणाम है कि उन्होंने भगवान की आज्ञा को महत्व दिया। साधु के लिए यदि कोई भी मुख्य वस्तु है तो वह है भगवान की आज्ञा। उन्होंने घर-परिवार सबका त्याग किया आखिर किसलिए? भगवान की आज्ञा के अनुरूप जीवन जीने के लिए ही न। हम उस महापुरुष को किसी भी चश्में से देख सकते हैं किन्तु तटस्थ बुद्धि वाला, उन निस्पृह साधक के जीवन वृत्त को देखने का, उस पर सोचने-समझने का प्रयत्न करेगा तो वह कहेगा कि उन्हें पता नहीं कौन सा ज्ञान हो गया जो उन्होंने स्वयं को भगवान की आज्ञा में उपस्थित रखा व अन्य अनेक को भगवदाज्ञा पर आरूढ़ करने का कार्य किया। अतः कलम की नोक सत्यार्थ को प्रकट करने वाली बने।

## सामुदायिक चेतना विकसित हो

**अ**सहिष्णुता अशान्ति को जन्म देती है। तीर्थंकर देवों ने शान्ति का मार्ग सामुदायिक जीवन शैली के रूप में दिया। उससे सहिष्णुता का विकास होता है। सहिष्णुता से अशान्ति पैदा नहीं हो सकती। सहिष्णु व्यक्ति धैर्यवान होता है। उसमें चंचलता भी अपेक्षाकृत कम होगी। चंचलता, अधैर्यता, असहिष्णुता से अशान्ति की पैदाईश होती है। सामुदायिक जीवन में सारणा, वारणा, धारणा का सम्यक् प्रयोग होता रहता है जिससे जीवन में संशोधन का कार्य होता रहता है। सामुदायिक जीवन में पारस्परिक विश्वास बना रहता है, जिससे कोई कुछ भी कह देता है तो सामने वाला उसे सुन लेता है। बिना विश्वास के सुनना संभव नहीं होता। विश्वास के बिना कोई कुछ कहने लगे तो उसके प्रति मन विद्रोही बनने लगता है। वह यदि हितकर भी कोई बात कहता है तो भी वह सुनी नहीं जायेगी। मन उत्तेजित हो जायेगा। उत्तेजना कमजोरी का द्योतक है। असहिष्णुता ही कमजोरी है। सुनने की धारणा के बिना सुना नहीं जाता। सुनने की धारणा विश्वास से होती है। जो सुनने की धारणा से गुजर जाता है, उसमें सहिष्णुता की भावना ठोस हो सकती है। सुनते-सुनते मन सुदृढ़ हो जाता है, जिससे उसमें उत्तेजना पैदा नहीं हो पाती। जो सुनने की धारणा से गुजर नहीं पाया होता है वह कमजोर रह जाता है। परिणामस्वरूप किसी के द्वारा कुछ भी कहे जाने पर वह उछलने लग जाता है। अशान्त हो जाता है। सामुदायिक जीवन, विश्वास की धुरी पर चलता है। विश्वास से वह सुनने के मार्ग से गुजरता है। सुन-सुनकर वह स्वयं को साध लेता है, जिससे विवाद पैदा नहीं होता। बिना विश्वास के विवाद को पैदा होते देर नहीं लगेगी। विवाद अशान्ति को बढ़ाने वाला बन जाता है जबकि मेरे गुरु महाराज का फरमान रहता था कि 'अपनों से विवाद नहीं' जिनके साथ रह रहे हैं, उनके साथ संवाद स्थापित रहना चाहिये। विवाद को पैदा ही नहीं होने देना चाहिये। संवाद जैसे ही विवाद का रूप लेने लगे समझदार को ब्रेक ले लेना चाहिये। जो अवसर पर ब्रेक ले सकता हो वह कभी विवाद को प्रश्रय नहीं देगा। अशान्त भी नहीं होगा। अतः आनंद, सुखमय जीवन के लिए सामुदायिक चेतना का विकास होना जरूरी है।

## सत्य निष्ठा से जीवन जीएं

**स**त्यनिष्ठा पूर्वक नैतिक आचरण के प्रति आस्था हो, वैसा ही व्यवहार हो तो जीवन सरसब्ज बना रहेगा। जीवन सदाबहार बना रहेगा। सत्य-निष्ठ व्यक्ति को दुःख का स्पर्श नहीं होता। कठिनाइयाँ उसके समक्ष भी आती हैं। जहाँ जीवन है वहाँ समस्याएँ-कठिनाइयाँ न आएँ यह संभव नहीं है। आज तक के इतिहास पर नजर डालेंगे तो विरले ऐसे लोग होंगे जिनके जीवन में कोई समस्या न आई हो। समस्याएँ आयेगी, यह मानकर ही व्यक्ति को किसी भी क्षेत्र में आगे कदम धरना चाहिये। सामान्य जन जहाँ समस्याओं से घिरने पर स्वयं को दुःखी बना लेता है, वहीं पर ज्ञानी पुरुष समस्याओं से शिक्षा लेते हैं। वे कहते हैं गलती एक बार नहीं अनेक बार हो सकती है। वे सब क्षम्य हैं पर किसी भी गलती की पुनरावृत्ति नहीं होनी चाहिये। वर्तमान युग में जब व्यक्तियों को देखते हैं तो लगता है जीवन जी रहे हैं पर संतुष्टि नहीं है। जी क्या रहे हैं जीवन को ढो रहे हैं। इसका कारण व्यक्ति स्वयं है। जब वह सत्यनिष्ठ नहीं रह पाता, **‘न्याय नीति को एक तरफ धर दे तो जीवन में सुकून कैसे पायेगा ? वर्तमान में और तो क्या साधु-श्रावक जो धर्ममय जीवन यात्रा में लगे हुए हैं, उन्हें भी तनाव में देखते हैं तो एक बार अन्तर हिल जाता है कि, ऐसा कैसे हो रहा है। संत जीवन महान् है।’** श्रावकत्व भी महत्वपूर्ण है फिर उसमें तनाव आदि क्यों ? इस पर अनुप्रेक्षा करने पर यह समझ में आया कि भगवान की आज्ञानुसार चले तो कहीं कोई कठिनाई या समस्या आएगी ही नहीं। कदाचित आ भी जाए तो वह तनाव नहीं दे पायेगी, क्योंकि उसका जीवन सत्य निष्ठा से ओत-प्रोत होगा। वह नैतिकता में पूर्ण आस्था रखते हुए चलेगा। समस्याएँ उसे सदमा नहीं दे सकतीं। समस्याओं से वह सीख लेता है। ऐसी स्थिति में उसकी प्रसन्नता बरकरार रहती है।

सत्य-निष्ठा वह रसायन है, जिसके सेवन से व्यक्ति का मनोबल सुदृढ़ होता जाता है। बस, वही दृढ़ता कठिनाई में भी उसे विचलित होने नहीं देती। जीवन के उतार-चढ़ाव को वह जीवन का स्वाद मान कर बड़े मजे में चटखारे लेता हुआ जीता है।

## संयोगों से मुक्त संत होता चुस्त

**सा**धु संयोग से मुक्त होता है। दूसरे शब्दों में संयोगों से मुक्त होता है वही साधु होता है। सचमुच में साधुता तो संयोगों से मुक्ति में ही है। साधु बन जाना एक बात है, संयोगों से मुक्त होना उससे भिन्न रूप है। संयोगों से मुक्त की मस्ती अलग ही होगी। उसको शब्दों में क्या बयां किया जाए ? वह तो वह अवस्था होगी- न आधो का लेना और न माधो को देना। अर्थात् स्वयं में स्वयं का अवस्थान। पर से कोई रिश्ता नहीं। पर से प्रेम-वात्सल्य-मैत्री भाव अवश्य है लेकिन लगाव नहीं। मेरा नहीं। उससे जुड़ाव नहीं। उसका मन पर कोई लेप नहीं। मन उनमें अटका हुआ नहीं है। संयोग मन को अटका लेता है। वह मन को स्वतंत्र नहीं होने देता। बस, उसी से साधुता रुकी रह जाती है। मेरेपन की बुद्धि संत में नहीं रहनी चाहिये। भगवान ने इसके लिए कितना सुन्दर भाव दर्शाया- संत यह माने यह मेरी निश्चा में है। निश्चा का अर्थ उसकी स्वतंत्रता को बनाये रखने वाला है। निश्चा में जो है वह उसके पास या समीप जरूर है पर उसका है नहीं। जैसे न्यासी, न्यास की देखरेख करते हैं पर न्यास उनका नहीं है। न्यास आगे सम् उपसर्ग लगा देने पर संन्यास हो जाता है। जो पूरा जीवन न्यासी की तरह जीता है, उसका अन्तर निहित भाव होता है **‘इदं न मम’** यह मेरा नहीं है। संत अनुज्ञा से किसी भवन में ठहरते हैं। उसमें ठहरे जरूर हैं पर वह उनका नहीं है। निश्चा शब्द भी यही संकेत देता है। ऐसे जीवन में ही मस्ती आ सकती है। जहाँ तेरा-मेरा, आदि संकीर्ण दायरा बना रहता है, वहाँ मस्ती आ भी कैसे सकती है ? किसी को आने के लिए रास्ता भी तो चाहिये। संयोग से मुक्ति मस्ती का मार्ग है। **‘इदं न मम’** मस्ती का मार्ग है। यदि मार्ग ही न मिले तो मंजिल कैसे मिलेगी ? भगवान महावीर का स्पष्ट उद्घोष है- जो मेरेपन की बुद्धि का त्याग करता है, छोड़ता है, वही सुखी होता है। (वहीं मस्त हो सकता है) हम भी भावना भाएं।

हे आत्मन् ! तू संयोगों से बद्ध मत हो जाना। संयोग तेरा रूप नहीं है। उसके त्याग से ही तू अपना स्वरूप प्रकट कर सकता है। किराये के आभूषणों के बजाय आभूषण नहीं पहनना अच्छा है।

## निर्ममत्व-निरहंकार भाव का महत्व

**सा**धु के लिए 'निमम्मो निहंकारो' आदि विशेषण आते हैं। इनका अर्थ होता है ममत्व रहित, अहंकार रहित। जहाँ ममत्व का भाव होता है वहाँ अहंकार रूप भी बनता है। 'इदं मम्' 'इदं मम्' यह मेरा है 'यह मेरा है' इस प्रकार का उद्घोष अहंकार का ही प्रतीक है। अहंकार को घटाना है, हटाना है तो ममत्व को हटाना होगा। ममत्व भी मोह की संतान है और अहंकार भी मोह की ही संतान है। इस दृष्टि से दोनों में भातृभाव होना स्वाभाविक है। जैसे राम-भरत का भातृ भाव प्रसिद्ध है, वैसे ही ममत्व और अहंकार को समझा जा सकता है। पर इनमें थोड़ा फर्क है। राम और भरत का भातृत्व भाव आत्म-प्रबोधक है सात्विक है जबकि ममत्व और अहंकार का भातृत्व भाव आत्म प्रवंचक एवं राजसिक किंवा तामसिक भाव है। पर दोनों की घनिष्ठता का भाव तुल्य हो सकता है।

ममत्व रहित का अर्थ निर्दयी नहीं होता है। दया और ममत्व दोनों में बहुत बड़ा अन्तर है। दया-वात्सल्य को यदि अमृत कहा जाए तो ममत्व व अहंकार को विष कहने में कोई संकोच नहीं होना चाहिए। दया, वात्सल्य अहिंसा के प्रतीक हैं। ममत्व व अहंकार हिंसा को प्रेरित करने वाले हैं। एक समय ऐसा भी आता है जब साधु निरपेक्ष भाव में पहुँच जाता है। तब वह वहाँ अपने तन की भी दया नहीं करता। उसका लक्ष्य एक मात्र आत्म-रक्षा का बन जाता है। आत्म-रक्षा यानी स्वदया। आत्म-हित साधन ही उसका ध्येय बन जाता है। जैसे गजसुकमाल मेतार्य आदि मुनियों ने उपसर्ग के क्षणों में तन-भाव से ऊपर उठ आत्म भाव में स्वयं को स्थापित किया। इस प्रकार की उत्कृष्ट दया-आत्म-दया निर्ममत्व व निरहंकारी भाव से ही संभव है। ममत्वी ऐसी दया के नाम से भी कांप जायेगा। वस्तुतः निर्ममत्वी निरहंकारी भाव ही साधना की ऊँचाइयाँ दिला पाता है।

## शब्दों से सम्बन्ध नहीं संधते

**श**ब्दों से सम्बन्ध कभी के टूट गये होते पर यह तो भावना और विश्वास है जो चोट खाकर, जखमी होकर भी संबंधों को सांधे रहते हैं। दुनिया में यदि केवल शब्द होते, भावना और विश्वास न होते तो शायद संबंधों का सिलसिला चल ही नहीं पाता। शब्द संबंधों में संध लगाते रहते हैं और हम हैं जो शब्दों को ही महत्व देते रहते हैं। शब्दों की दुनिया में मत जीओ। भावना और विश्वास की दुनिया को सम्बल दो। यदि भावना और विश्वास की दुनिया जीर्ण-शीर्ण हो गई तो यहाँ केवल लार्श ही लार्शें नजर आयेंगी। जमीन से जीवन लुप्त हो जायेगा। शब्दों का शहद भी विष रूप होता है। शब्द बदलता नहीं है। भावनाएँ बदल जाया करती हैं। भावना में प्राण होते हैं जो उसे जीवनदान दिये हुए हैं। भावना व विश्वास का ढहना यानी प्राणों का नाश।

शब्द विवाद की तरफ बढ़ते हैं। भावना संवाद स्थापित करने को तत्पर होती है। विश्वास जिन्दगी को आबाद करता है। शब्द संदेह पैदा करता हुआ बसे हुए घर को उजाड़ देता है। विश्वास जीवन का बसन्त है। संदेह पतझड़ है। शब्द भावना से परिपूरित होते हैं तो वे बड़े काम के होते हैं। वे बड़े चमत्कारी होते हैं। उनसे टूटे हुए रिश्ते जुड़ जाते हैं। जुड़े हुए सम्बन्ध सुदृढ़ हो जाते हैं। आर.सी.सी. का रूप ले लेते हैं। लेकिन भाव शून्य शब्द थोथे चणे के समान होते हैं, जो खनकते तो हैं, बजते तो हैं पर निस्सार होते हैं। भावना के साथ-साथ विश्वास का पुट मिल जाय तब तो कहना ही क्या ? भावना विश्वास पैदा कर देती है। शब्द विश्वास को तोड़ने में, कत्ल करने में अग्रसर होते हैं। शब्द, तीर की तरह तीखा होता है। विश्वास मक्खनवत् सुहाता और शक्ति वर्धक होता है। नीति में भी कहा गया है - "विश्वासो फल दायकः।"

विश्वास हकीकत में फलदायक होता है। शब्दों का सर्जन करने के बजाय भावना और विश्वास को अहमियत दी जाय। उसे पोषण दिया जाय। उसे फलने-फूलने का अवसर दिया जाय। भावना और विश्वास के बल पर हारी हुई बाजी भी जीती जा सकती है।



## जो टूट सकता है, झुक नहीं सकता

**अ**हंकार शुष्क काष्ठ की तरह होता है, जो टूट तो सकता है पर झुक नहीं सकता। शुष्क काष्ठ में संजीवनी रस नहीं होता। यानी उसे जड़ों से मिलने वाला रस मिलता नहीं है। पहले प्राप्त रस सोख गया होता है। अहंकार में भी वात्सल्य रस का संचरण नहीं होता। वह सोख गया होता है। अहंकारी, समुदाय से अलग-थलग पड़ जाता है। वह कहीं नमता है तो भी टांग अपनी ऊँची रखना चाहेगा। परिणामस्वरूप वह सत्य-शिक्षा अपने में ले नहीं पाता। वह एक सीमित दायरे में ही रह जाता है, विस्तार नहीं पाता। विकास नहीं कर पाता। उसे लगता है उसकी साख ऊँची है पर एरंड से ऊँची वह नहीं होती, कहा भी है-

**आम झुके-इमली झुके, झुके तो दाढ़म दाढ़।  
एरंड बिचारा क्या झुके, जिसकी ओछी साख।।**

वह स्वयं को भले ही तीसमार खां मान कर चले पर समुदाय में वह इज्जत नहीं पाता। समुदाय का वह एक अंग होता अवश्य है पर भावात्मक रूप से उसका जुड़ाव उससे नहीं हो पाता। वह प्रायः अतृप्त रहता है। जितना वह चाहता है, उतना मिलता नहीं। इसलिए उसकी अतृप्ति बनी रहती है। अतृप्ति उसे संतुष्टि नहीं दे पाती। वह अशान्त-अनिश्चय में झूलता रहता है। असंतुष्टि से उसका स्वभाव चिड़चिड़ा हो जाता है। खीझ उसके इर्द-गिर्द बनी रहती है। ये वे ही सारे घटक हैं जो उसे टूटने की दिशा में गति कराते हैं। हीन भावना का सम्बन्ध दामन-चोली के सदृश हो जाता है। वह धौंस जमा कर अपना रुतबा बनाये रखना चाहता है, जो अल्पजीवी होता है। लम्बे समय तक धौंस चल नहीं पाती। इससे उसकी परिणति उत्तेजना की बन जाती है। कभी-कभी तो उत्तेजना इतनी तीव्र हो जाती है कि व्यक्ति की नस फट जाती है। बेहोश हो जाता है। इतना होने पर भी उसकी समझ में यह बात आती नहीं है। वह समझ ही नहीं पाता।

## जीवन के दो पहलू

**सि**क्के के दो पहलू होते हैं। मानव जीवन के भी दो पहलू होने चाहिये। एक तरफ उसका व्यक्तिगत जीवन होता है तो दूसरी तरफ सामुदायिक जीवन होता है। उसका व्यक्तिगत जीवन जितना महत्व रखता है, सामुदायिक जीवन का महत्व उससे कम नहीं होता। सिक्के का कौन सा पहलू महत्वपूर्ण है? ऐसा यदि कोई पूछे तो उसका उत्तर होगा-दोनों पहलू समान महत्व रखते हैं। यही उत्तर मनुष्य व्यक्तिगत व सामुदायिक जीवन के संदर्भ में है। इसमें जब कोई भेद खड़ा कर दे अथवा दोनों पहलुओं में से किसी को भी कमतर आँकने लगे तो वहाँ उसकी मूल्यवत्ता पर आँच आना स्वाभाविक है। यदि थोड़ा हट कर विचार करें तो व्यक्तिगत जीवन से सामुदायिक जीवन अधिक महत्वपूर्ण होता है। व्यक्तिगत जीवन में स्वार्थ भाव जुड़ा रहता है, सामुदायिक भावना में उसका त्याग करना जरूरी होता है। अपने स्वार्थ को जब महत्व मिलने लगता है तो सामुदायिक जीवन चरमरा जाता है। सामुदायिक जीवन यदि खतरे में पड़ता है तो व्यक्तिगत जीवन उससे प्रभावित हुए बिना नहीं रहता। व्यक्ति यदि समुदाय को अधिक मूल्य न भी दे सके तो कम से कम अपने से कमतर तो उसे नहीं आंके। व्यक्तिगत जीवन जितना महत्व तो अवश्य दे। समुदाय का भी दायित्व है कि वह प्रत्येक व्यक्ति को भी उतना ही महत्व दे, जितना उसे प्राप्त है। व्यक्ति से समुदाय बनता है। समुदाय से व्यक्ति शोभित होता है। समुदाय के बीच उसकी जो प्रतिष्ठा होती है, वह अकेले में कैसे हो सकती है। व्यक्ति की शक्ति समुदाय के रूप में अनेक गुणित हो जाती है। जो काम व्यक्ति नहीं कर पाता वह समुदाय से हो जाता है। नीतिकारों ने तो कलियुग में समुदाय की शक्ति को ही महत्व दिया है। कलियुग में ही क्यों व्यक्ति और समुदाय का पारस्परिक सम्बन्ध प्रागैतिहासिक काल से रहा है। समुदाय को नकारना यानी स्वयं को नकारना है।

## बिना बीज फूल खिले ना

**चा**र परम दुर्लभ अंगों में मनुष्य जीवन बीज रूप है। श्रुति जमीन व खादादि रूप है। श्रद्धा अंकुरण एवं संयम में पुरुषार्थ वृक्ष, पुष्प व फल रूप है। बीज को यदि जमीन न मिले, खाद न मिले तो वह बीज व्यर्थ हो जाता है। न वह अंकुरित ही हो पाता है और न पुष्पित-फलित ही। जो अंकुरित ही न हो वह पुष्पित-फलित कैसे हो पायेगा? कई बीज जमीन व खाद पानी से भी युक्त हो जाते हैं, यानी उन बीजों को जमीन व खाद-पानी मिल जाता है लेकिन फिर भी वे अंकुरित नहीं हो पाते। उसके पीछे कारण कुछ भी हो सकते हैं किन्तु इतना अवश्य है कि उसे या तो खाद-पानी का संयोग पूर्ण रूप से नहीं मिल पाया अथवा उन बीजों की नियति ही वैसी होगी जो खाद-पानी आदि के संयोग मिलने पर भी वे अंकुरित नहीं हो पाये। इसी प्रकार कई बीज अंकुरित होकर ही नष्ट हो जाते हैं। इसी प्रकार जीवों की दशा भी है। सबसे पहले तो मनुष्य जीवन की प्राप्ति ही दुर्लभ है। वह प्राप्त हो भी जाय तो श्रुति का संयोग नहीं बन पाता। इधर-उधर की बातें सुनने को मिल भी जाएं तो उनसे कोई सार्थक स्थिति नहीं बन पाती। जो वैराग्य-संवेग-निर्वेद को पैदा कर सके ऐसी श्रुति नहीं मिल पाती। कइयों को वैसा संयोग मिल जाने पर भी उनमें श्रद्धा का भाव जन्म नहीं ले पाता। बिना श्रद्धा के संयम के फूल भी खिल नहीं सकते। संयम के फूलों को खिलने के लिए श्रद्धा का होना जरूरी है। श्रद्धा के लिए श्रुति एवं श्रुति के लिए मनुष्य जीवन की जरूरत होती है।

श्रुति से ही दिशा का बोध होता है। श्रद्धा उसे उस पर चलने को उत्प्रेरित करती है। उस दिशा में चल पड़ना पुरुषार्थ है। इन अंगों के माध्यम से व्यक्ति आध्यात्मिक जीवन की सर्वोच्च ऊँचाइयाँ प्राप्त कर सकता है, जो कि भौतिक संसाधनों से कथमपि संभव नहीं है। दुर्लभ को सुलभ मनुष्य अपने पुरुषार्थ से कर सकता है।

## अपने में अपनी उपस्थिति

**व्यक्ति** व्यापारादि कार्यों में स्वयं को व्यस्त बनाये हुए है। व्यापारिक कार्यों के लिए यातायात में भी उसका काफी समय निकलता है। कई लोग तो एक महीने की टूर-यात्रा करते रहते हैं। यात्रा के संसाधन इतने प्रचुर हैं कि आदमी को यात्रा में सुविधा की अनुभूति भी होती है। टेम्पो, कार, बस, रेल, प्लेन आदि अनेकविध यात्रा के साधनों से आदमी घुमक्कड़ बन गया है। किन्तु उसने अपने अन्तर में घुसने-घूमने की तैयारी की या नहीं? बाहर के साधनों से वह कभी भी अन्तर की यात्रा नहीं कर पायेगा। साधनों का कितना भी प्राचूर्य हो, वे बाहर ही घुमा सकते हैं, भीतर की यात्रा कराने में वे सक्षम नहीं हैं। अन्तर-यात्रा के लिए स्वयं से ही स्वयं में प्रवेश करना होगा। उसके लिए प्रारंभिक रूप श्वास है। आगे और गहरे में ले जाने वाली अनुप्रेक्षा है। अनुप्रेक्षा के माध्यम से गहरे से गहरे में उतरा जा सकता है। उसके बिना शब्द भी केवल बाहर की यात्रा ही करा सकते हैं। वे अनुभूतियाँ नहीं दे सकते। अनुभूतियाँ अनुप्रेक्षा से ही प्राप्त हो पाती हैं। अनुप्रेक्षा से जितने गहरे में उतरेंगे उतने ही अन्तर के रहस्य स्पष्ट हो पायेंगे। क्योंकि शब्द असंख्यात् है पदार्थ अनन्त है। अनन्त को व्यक्त करने वाले शब्द असंख्यात् ही हैं, अतः स्पष्ट है कि एक-एक शब्द के वाच्य अनन्त हैं। उन अनन्त वाच्यों का ज्ञान अनुप्रेक्षा से ही हो पाता है। अन्यथा वह सारा का सारा शब्द रूपी बॉक्स में (पेटी में) बंद पड़ा रहता है। स्वयं का ज्ञान भी अनुप्रेक्षा से ही संभव है।

दूसरा एक मार्ग समीक्षण का भी है। उससे दृष्टा भाव का जागरण होता है। दृष्टा भाव जगने पर चित्त स्थिर हो जाता है, जिससे अन्तर की झलक प्राप्त होने लगती है। अन्तर यात्रा से आत्मसमाधि मिलती है। संतोष मिलता है। तनाव-अशान्ति आदि समस्याएँ समाप्त हो जाती हैं। चित्त प्रसन्न-प्रमुदित रहता है। अपने में अपनी उपस्थिति का अनुभव कर पाता है। बढ़ें उस ओर...

## इच्छा के साथ शक्ति की भी जरूरत

**कि**सी भी कार्य को सम्पन्न करने के लिए तत्पर व्यक्ति को अपना आदर्श स्पष्ट करना चाहिये।

उसका आदर्श सदा उसके सम्मुख रहना चाहिये। बिना आदर्श के कार्य सिद्धि संभव नहीं है। सामान्य स्तर से जीवन जीने वाले शायद अपना आदर्श तय नहीं कर पाते हैं अथवा इसे यों भी कह सकते हैं कि जो आदर्श तय नहीं कर पाते वे सामान्य स्तर से जीवन यापन कर रहे होते हैं। जो उच्च रीति से जीवन यापन करना चाहें उन्हें आदर्श लक्ष्य जरूर तय कर लेना चाहिये। आदर्श का तात्पर्य है जिस स्तर तक पहुँचना है स्वयं को वैसा बनाना है। आदर्श की तस्वीर मस्तिष्क में निर्मित हो जानी चाहिये। साथ ही उसकी गति भी उसी के अनुरूप होनी चाहिये।

साधना के क्षेत्र में अरिहंत को हम देव मानते हैं। वह हमारा आदर्श है। साधुता उसका यान है एवं धर्म उसका पथ है। बिना साधुता के अरिहंत नहीं बन सकते। बिना धर्म के साधुता नहीं ठहर सकती। कोई यदि मरुदेवी माता की तरह सिद्ध-अरिहंत बनना चाहे तब भी बिना साधुता के अरिहंत बना नहीं जा सकता। साधुता यदि एक बार भी आ गई तो उसका अरिहंत बनना निश्चित है। वह एक न एक दिन अर्हता को प्राप्त करेगा। भले ही उसे कई जन्म लेने पड़ जायें। जहाँ गाड़ी सीधी जाने वाली नहीं होती है तो गाड़ी बदल करके यात्रा पूरी की जाती है। वैसे ही वर्तमान में यहाँ जन्में हुए लोगों के लिए अरिहंत तक सीधी साधना नहीं बन सकती पर यदि उसके भीतर इच्छा और शक्ति दोनों का समावेश हो जाय तो वह भवान्तर में भी उस लक्ष्य के अनुरूप गति करता रहेगा। इच्छा हो पर तदनु रूप शक्ति सामर्थ्य को नहीं जगा पाए तो सफलता नहीं मिल पाती। साधुता में जीने की इच्छा तो हो पर यदि उसके अनुरूप सामर्थ्य न जगा पाए तो साधुता में जीया नहीं जा सकता। जैसे उपग्रह को आकाश में पहुँचाने के लिए रॉकेट की जरूरत होती है, वैसे ही इच्छा के अनुरूप सफलता पाने के लिए तदनु रूप शक्ति जागरण भी आवश्यक है।

## पहले अपनी आँख देखो

**कौ**न क्रोधी है, कौन अहंकारी है, कौन मायावी या लोभी है, कौन धूर्त है, कौन मूर्ख है? इन प्रश्नों के उत्तर में यदि हम यह कहें कि अमुक क्रोधी या अहंकारी आदि-आदि है तो इस पर प्रश्न होता है कि हमने कौन सी आँख से देखा कि अमुक क्रोधी है अथवा अहंकारी या अन्यान्य है। हमारी आँख क्या पूर्ण निर्दोष है? हमारी सोच क्या पूर्णतया दोष रहित है? क्या हमने किसी आइडिया के आधार पर या अपने मन से ही ऐसे अर्थ तो घटित नहीं कर लिये? यदि हमने मन से ही किसी को कुछ भी सर्टिफिकेट-प्रमाण-पत्र दे दिया तो क्या वह पूर्णतया शुद्ध है? पूर्णतया सही है? यदि हाँ तो उसका प्रमाण क्या है? उत्तर यदि ना में हो तो जब वह पूर्णतया प्रामाणिक है ही नहीं तो उसका कथन क्या मायने रखता है? अथवा उक्त प्रकार का निर्णय क्या महत्वपूर्ण हो सकता है? स्पष्ट है कि अधिकांश व्यक्ति अपने नजरिये से ही दुनिया को देखा करते हैं। दुनिया को देखने की उनकी दृष्टि भी सही होती नहीं है। वैसी स्थिति में कुछ भी सोचा जाय तो वह उचित कैसे रह पाएगा। अनेकशः ऐसा भी होता है कि हम किसी को किसी नजरिये से देखकर निर्णय ले लेते हैं। लेकिन जैसे ही वस्तु स्थिति स्पष्ट होती है, हमें बड़ी लज्जा की अनुभूति हो होती है कि हमने ऐसा किस आधार से सोच लिया? हमें सोचने के पहले कोई आधार तो बनाना था कि अमुक-अमुक कारणों से मैं ऐसा निर्णय ले रहा हूँ। ऐसा होने पर मन को तसल्ली होती है कि हमने जो निर्णय लिया है, उसके पीछे आधार है। बिना आधार के केवल अपने मन से निर्णय नहीं लिया है। कोई व्यक्ति कितना भी दोषी, क्रोधी, मानी आदि हो सकता है किन्तु हमारी आँख निर्मल-पवित्र होनी चाहिये। पवित्र आँख किसी को दोषी कैसे ठहरा पायेगी। दूसरों में दोष देखने से पहले अपनी आँख को अवश्य देखो।



## आत्मस्थित परमात्मा को देख

**भ**गवान हमारे से दूर नहीं हैं, पर हमने भगवान-परमात्मा से दूरी बना रखी है। हमने जो दूरी बना रखी है उसे दूर हमें ही करना होगा। वह तब हो पायेगा जब हमारी वैसी इच्छा शक्ति बनेगी। जब तक हमारे अन्तर में उसके लिए जबरदस्त ललक नहीं जगेगी तब तक उस दूरी को हम दूर नहीं कर पायेंगे। चौंकिये मत। आपको लगता होगा कि हम तो भगवान से मिलने को तैयार हैं पर यथार्थ में वैसी स्थिति है नहीं। सेठानी ने संतों के वहाँ नहीं पहुँचने का दोष सेठ पर मढ़ा कि न सेठजी सोने की चूड़ी को ठीक कराते हैं और न मेरा प्रवचन में आना होता है। सोने की चूड़ी का प्रवचन से कोई सम्बन्ध नहीं था, पर उसने वैसा अपना मन बना लिया। वैसे ही हम अपना मन बनाये हुए हैं। हम कषाय को छोड़ नहीं पाते। अपनी पकड़ को शिथिल कर नहीं पाते। जब हम स्वयं को पारदर्शी नहीं बना पाते तो परमात्मा को कैसे देख पायेंगे? हम सिद्ध क्षेत्र में रहे हुए परमात्मा की तो उपासना करते हैं पर अपने भीतर रहे हुए परमात्मा को नजर अन्दाज कर रहे हैं। ऐसी स्थिति में हम परमात्मा को कैसे देख सकते हैं। कैसे उनके दर्शन कर सकते हैं। सिद्ध भगवान के दर्शन भी तब होंगे जब हम अपने भीतर में रहे हुए परमात्मा के दर्शन कर लेंगे। उनके दर्शन न हो पाने में हमारी ही नासमझी है। हम ही स्वयं को पारदर्शी नहीं बना पा रहे हैं। हमें मन की परत को पारदर्शी बनाने की दिशा में प्रयत्न करना चाहिये। मन की परत को पारदर्शी बनाने के लिए आवश्यक है कि उसमें पड़ी ग्रन्थियों को शिथिल करें। उन्हें दूर करें। जल में लकीर खींचने से जैसे उसमें वह अगले ही क्षण नजर नहीं आती है, वैसे ही हमारे मन पर कोई रेखा बने नहीं। मन पर स्क्रैच न आए, इसका ध्यान रखा जाय।

## पहले मन सुदृढ़ करो

**अ**पने कषायों को निकालना, दूर करना जितना कठिन है, उससे भी ज्यादा कठिन अपने को मिली सफलताओं को सुरक्षित रखना है। व्यक्ति को थोड़ा सा अर्थ लाभ हो जाय तो वह उछलने लगता है। वह उस अर्थ से स्वयं को बहुत बड़ा महामानव स्थापित करने की फिराक में रहता है। किन्तु अध्यात्म कहता है कि यदि साधना करते हुए तुम्हें लब्धियाँ-शक्तियाँ प्राप्त हुई हों तो तुम उसका प्रदर्शन मत करो। उनका गोपन करो। उनका गोपन करना बड़ी टेढ़ी खीर है। क्योंकि मन उछाल खाता है कि लोगों को ज्ञात हो कि मेरे पास कितनी लब्धियाँ-शक्तियाँ हैं। लोगों को मालूम पड़ेगा तो लोग मेरा मूल्य आंक पायेंगे आदि। बस इसी विचारधारा से हम रास्ता भटक जाते हैं। हमारा आध्यात्मिक विकास थम जाता है। आज तक जो विकास हो पाया था उसका भी क्षरण होने लगता है। जैसे बिना देखरेख के मकान या पाट आदि शीघ्र जीर्ण-शीर्ण हो जाते हैं, वैसे ही हमारी शक्तियाँ भी जीर्ण-शीर्ण हो जाती हैं। उनकी ताकत मंद पड़ जाती है। कमजोर मन वाले को यदि लब्धियाँ प्राप्त हो जायं तो बन्दर के हाथ में चाकू-तलवार आने से जो दशा हो होती है वैसे ही दशा उस साधक की हो सकती है। अपने में लब्धियों को पाने के पहले मन की परीक्षा अवश्य की जाय कि मन उनका गोपन करने में उतना सुदृढ़ है या नहीं? अन्यथा प्राप्त शक्तियों से हम स्वयं अपना भी अहित कर सकते हैं। अन्यों का भी अहित हो सकता है। कच्ची हँडिया में यदि ज्यादा भर दिया जाय तो वह हँडिया खतरे में पड़ जायेगी। फट जायेगी। भीतर भरी सामग्री भी व्यर्थ हो जायेगी व हँडिया भी फूट जायेगी। अतः शक्तियों का अर्जन करने के पहले मन को सुदृढ़ बनाना न भूलें। मन धैर्यवान बने। अविचल बने। कैसी भी कठिनाई आ जाय उसमें चल-विचल अवस्था न बने। चाहे सिर पर अंगारे रखे जायें या कानों में कीलें ठोंकी जाय, मन चंचल नहीं हो। मन पर उसका असर ही न हो।

## मन की धुलाई निरन्तर हो

हम कपड़े धोते हैं। बर्तन-पात्रादि धोते हैं, क्यों ? यदि ऐसा प्रश्न किया जाता है तो उत्तर स्पष्ट है कि वे गंदे न रहें। उनको साफ-सुथरा, स्वच्छ करने के लिए उन्हें धोया जाता है। शरीर को भी नहलाया जाता है, अन्यथा उसमें गंध छूटने लगती है। (सन्त इसके अपवाद हैं। जैन संत के लिए स्नान वर्जित है।) अब हम चर्चा कर रहे हैं मन की। क्या मन की सफाई की तरफ भी हमारा उतना ही ध्यान है? यदि मेरे से कोई जानना चाहेगा तो मैं उसे यह सलाह देना चाहूँगा कि तन-वस्त्रादि की सफाई हो या न हो मन की सफाई निरन्तर हो। क्षण-क्षण में हो। तन या वस्त्र कभी-कभी काफी समय तक गंदे नहीं होते पर मन तो क्षण-क्षण में गंदा होता रहता है। वह स्वयं में कूड़-कपट व कौथला बन जाता है। दुनिया भर की गंदगी वह अपने में भर लेता है। उसकी गंध यदि बाहर आने लगे तो गटर से भी अधिक उसकी गंध असह्य होती है। अतः उसकी सफाई-धुलाई होना आवश्यक है। प्रश्न होगा कि उसकी धुलाई कैसे की जाय? इसके लिए पहले यह देखना होगा कि मन की परत कैसी है? मन की परत यदि उच्च ग्रेनाइट के पत्थर की तरह हो तो उसकी सफाई आसानी से हो सकती है जबकि हल्के कोटा स्टोन या खुरदुरा पत्थर की फर्शवत हो तो उसको साफ करने में परिश्रम अधिक करना पड़ेगा। उसके खुरदुरेपन में मैल घुस कर जम गया होता है। मन पकड़, आसक्ति आदि के कारण अपनी फर्श को खुरदुरा बना लेता है। उसमें जगह-जगह गड़ढे हो जाते हैं। उसकी सफाई बिना श्रम के नहीं हो पाती। उसको साफ करने के लिए सबसे पहली जरूरत है पकड़ को शिथिल किया जाय। पकड़ के पीछे अहंकार का हाथ होता है। पकड़ को उससे दूर करते ही पकड़ ढीली पड़ जायेगी। अहंकार सच्चाई नहीं है, यह हमको अच्छी तरह समझ लेना चाहिये। सच्चाई में गतिशीलता होती है, जबकि अहंकार स्थिर स्वभाव वाला होता है। अहंकार से विकास के सारे रास्ते बंद हो जाते हैं। घर पर जैसे ताला जड़ दिया गया हो। अतः हमें समझना होगा कि अहंकार सच्चाई नहीं अपितु मन का भटकाव है। उसे दूर करते हुए आलोचना, गर्हा, निंदा का मार्ग अपनाना चाहिये।

## साधन बदलते हैं, दिशा नहीं

व्यवस्थाओं में बदलाव स्वाभाविक है। समय-समय पर बदलाव होते रहते हैं। वैश्विक बदलाव के प्रभाव से कोई भी पूर्ण रूप से बच सके यह कठिन है। बदलाव समय सापेक्ष है। बदलाव से हमारा विरोध भी नहीं होना चाहिये और अबदलाव का आग्रह भी न हो। हमारा लक्ष्य सत्य को साधने का है। सत्य की दिशा नहीं बदलें। दिशा हमारी सही हो, साधनों को बदलने में कोई हर्ज नहीं है। व्यवस्थाएँ साधन हैं। पारिवारिक व्यवस्थाओं में बदलाव आया है। सामाजिक व राष्ट्रीय व्यवस्थाओं में भी अनेकशः बदलाव हुए हैं, हो रहे हैं। धर्म संघ भी इससे अछूता नहीं रहा है। उसमें बदलाव आए हैं। आज जो व्यवस्था है, वह अन्तिम पड़ाव है, ऐसा भी किसी को नहीं मान लेना चाहिये। पहले की व्यवस्थाएँ दोषपूर्ण थीं ऐसा भी नहीं समझना चाहिए। उस समय उन व्यवस्थाओं का मूल्य था। इसलिए उनका उपयोग था। वर्तमान में वे अनुपयोगी हो गयी हैं, ऐसी बात नहीं है। फिर भी द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव की दृष्टि से यथायोग्य सुधार, संशोधन होना अनुचित नहीं है। आने वाले समय में अन्य बदलावों की जरूरत होगी तो उसके लिए इनकार नहीं है। पर हाँ बदलाव व्यवस्थाओं में हो सकता है, उद्देश्य में नहीं। दिशा जो है उसे नहीं बदला जा सकता। अहिंसा-सत्य को बदल कर हिंसा-असत्य की दिशा नहीं ली जा सकती। दिशा यदि बदल गई तो मंजिल कैसे मिल पायेगी? अतः स्पष्ट है व्यवस्था रूप साधन बदले जा सकते हैं पर दिशा नहीं।

एक युग था जब आचार्य के साथ-साथ उपाध्याय, गणावच्छेक, प्रवर्तक आदि की व्यवस्थाएँ हुआ करती थीं। समय बदला, व्यवस्थाएँ बदल गईं। कई गच्छों में आचार्य भी नहीं हैं। स्थिविर व्यवस्था देखते हैं। कई गच्छों में आचार्य समग्र व्यवस्थाओं को संचालित करते हैं। कई जगहों पर पदवीधर तो हैं पर व्यवस्थाएँ उनके हाथ में नहीं हैं। समय के साथ सामाचारियों का परिवर्तन होता रहा है। इसलिए कह सकते हैं व्यवस्थाएँ परिवर्तनशील हैं, दिशा अपरिवर्तनीय है।

## प्रसन्नता निजी निधि है

प्रसन्नता तुम्हारी अपनी निधि है। उदासी, खिन्नता आदि रूप अवस्थाएँ पर सापेक्ष हुआ करती हैं। कर्मोदय भी उसका हेतु हो सकता है। उन्हें सापेक्ष या सहेतुक कहा जा सकता है, लेकिन प्रसन्नता, वह अपनी है। प्रसन्नता-प्रफुल्लता आत्मिक गुण हैं। यह अन्य की उपस्थिति में कभी-कभी आवृत्त भी हो जाते हैं पर सदा आवृत्त नहीं रह पाते। गुलाब का फूल प्रफुल्ल रहता है। खिला रहता है। यह उसका स्वभाव है। इसी प्रकार मनुष्य खिला रहे यह उसकी नियति है, पर मनुष्य अपने ही कारनामों से, अपनी ही सोच और समझ से प्रसन्नता आदि के बदले उदासी-खिन्नता आदि को बटोर लेता है। ऐसे व्यक्तियों के लिए रामायण कहती है -

**सकल पदारथ है जग मांही, पुण्यहीन नर पावत नाहीं।**

हम स्वयं को एक सफल मनुष्य के रूप में उपस्थित कर सकते हैं एवं विफलताओं से घिरे हुए भी हम स्वयं को रख सकते हैं। समय जो है वह सबके लिए है, तुम उस समय में मुस्कुरा भी सकते हो और गमगीन हो तनावग्रस्त भी रह सकते हो। यदि तुमने केवल एक आत्मिक गुण प्रसन्नता को चुन लिया तो तुम्हें विफलता का रोना कभी रोना नहीं पड़ेगा। चूंकि प्रसन्नता तुम्हारी निजी निधि है। उसके तुम स्वयं मालिक हो। उसे कहीं से याचना करने की जरूरत नहीं है। जैसे फूल टहनी पर खिला रहता है वैसे ही आत्मा ही कर्ता है, वही विकर्ता है। रूप टहनी पर अपने वैचारिक फूल खिलाए रख सको तो किसकी ताकत है कि वह तुम्हारी प्रसन्नता पर हाथ डाल सके। यदि किसी ने हाथ डाला भी सही तो उसे कुछ भी हस्तगत होना नहीं है। सुना है बरलोटा के यहाँ चार बार छापे पड़े पर उनको हर बार खाली हाथ ही लौटना पड़ा। ठीक वैसे ही एक प्रसन्नता को तुमने हृदय से स्वीकार कर लिया तो हर क्षेत्र में जीत तुम्हारी ही होगी, इसे तय समझो।

## तुम्हारी सोच ही तुम्हारा परिचय

**सो**

चना मनुष्य का स्वभाव है। वह सोचेगा। बिना सोचे रह जाय यह नामुमकिन है। कोई विरला व्यक्ति बिना सोचे रह जाय तो बात अलग है। सामान्यतया सभी मनुष्य सोचते हैं। कौन मनुष्य क्या सोचता है? उसकी सोच कैसी है, उसकी पहचान अन्य कर सके या न कर सके, वह स्वयं जान सकता है कि उसकी सोच गुणात्मक है या प्रतिक्रियात्मक है। सकारात्मक है या नकारात्मक। इसके लिए अत्यन्त सरल फार्मूला है, जब वह किसी भी व्यक्ति को किसी प्रकार के एक्शन करते हुए देखे, बोलचाल के लहजे को देखे तब सबसे पहले उसके विचार किस रूप में बनते हैं। विचार व्यक्त हो या अव्यक्त पर उसके विचार बने किस रूप में। वह उस व्यक्ति के विषय में क्या सोचता है? यदि उसे वह व्यक्ति पाखण्डी लगे, उसके प्रति-प्रतिक्रियात्मक भाव स्फूर्त हो तो समझना चाहिये वह प्रतिक्रियात्मक सोच वाला है। गुणात्मक सोच वाला उसमें गुण देखने का प्रयत्न करता है। हजार अवगुणों में भी कोई न कोई गुण व्यक्ति में होता ही है। श्रीकृष्ण वासुदेव गुणात्मक सोच रखते थे। सड़े कान की कुतिया के रूप में देव द्वारा की गई परीक्षा में उत्तीर्ण हुए थे। उन्होंने देव माया से बनी कुतिया के सड़े कान को या दुर्गन्ध को नहीं देखा, उस पर नहीं विचारा बल्कि उन्होंने उसके सुन्दर दंत पंक्ति की धवलता की प्रशंसा की। यदि किसी व्यक्ति के व्यवहार से 'यह तो ऐसे ही करता रहता है'। आदि रूप विचार बनते हैं तो कहना ही होगा कि उस व्यक्ति की सोच भी नकारात्मक प्रधान। सकारात्मक सोच वाला विचार उसके सुधार के रूप में करेगा। तत्व रूप से चिन्तन करने वाला प्रतिक्रिया के बजाय तटस्थ भाव व्यक्त करता है अथवा तटस्थ रूप से विचार करता है।

## अपने दुःखों का सृष्टा तू ही है

**अ**पने दुःखों के संसार को व्यक्ति ने स्वयं रचाया है। दुःखों की सृष्टि का सर्जन उसने स्वयं किया है। वही उसका कर्ता है। इतना ही नहीं विकर्ता भी वही है। जैसे वह दुःखों की सृष्टि रच सकता है, वैसे ही उन्हें वह हटा भी सकता है। हवा के एक झोंके से आकाश बादलों से आच्छादित हो जाता है तो हवा के झोंके से बादल बिखर भी जाते हैं। इसी प्रकार जीव अध्यवसाय विशेष से कर्मों का सर्जक होता है एवं अध्यवसाय विशेष से उनका विकर्ता भी होता है। यह सिद्धान्त जब जीवन की गहराई में रम जाता है तो उसकी चिन्तन सरणी आत्मा के इर्द-गिर्द चक्कर लगाने लगती है। उसका चिन्तन अध्यात्मपरक बन जाता है। मात्र चिन्तन ही अध्यात्मपरक नहीं बनता उसकी गति-प्रवृत्ति में भी उसकी झलक स्पष्ट दृष्टिगत होने लगती है। दुनियावी लोगों की तरह उसकी प्रवृत्ति गतानुगतिक नहीं होती। वह कोई भी कार्य-प्रवृत्ति करता है तो सोचता है-इसका परिणाम क्या होगा? यदि परिणाम दुःखदायी जानेगा तो वह उस दिशा में बढ़ेगा ही क्यों? कोई व्यापारी जान ले कि अमुक व्यापार से घाटा ही होने वाला है, अर्थ की ही नहीं प्रतिष्ठा की भी हानि होने की पूरी संभावना है तो वह उस व्यापार को नहीं करना चाहेगा। इसी प्रकार चिन्तक व्यक्ति भी जिसमें हानि होने की संभावना हो, दुःख पैदा होने की संभावना हो वैसी प्रवृत्ति नहीं करना चाहेगा। व्यापार या अन्य कार्यों में व्यक्ति हानि-लाभ का विचार कर लेता है पर धार्मिक क्षेत्र में वह बिना सोचे-समझे गतानुगतिक बन जाता है। परिणामस्वरूप वह धर्म के रहस्य को, मूल स्वभाव को जान नहीं पाता। वह देखा देखी जो प्रवृत्ति करता वह प्रायः मेल समेल परक होती है, जिससे उसका लाभ वह पा नहीं पाता। मिलावट की औषध से जैसे बीमारी ठीक नहीं हो पाती, वैसे ही मिलावट के धर्म से दुःख दूर नहीं होते, भव रोग का नाश नहीं हो पाता। धर्म से जो शान्ति-समाधि मिलनी चाहिये थी वह मिल नहीं पाती। अतः पहले धर्म के स्वरूप को जानें। चिन्तन-मनन-अनुप्रेक्षा पूर्वक आचरण करें तो ही उसका सुखद परिणाम प्राप्त हो सकता है।

## आज्ञा यानी आज्ञा

**आ**ज्ञा में धर्म है। यह आप्तवाणी है। व्यवहारिक क्षेत्र में भी देखा जाता है कि सेना के लिए सेनापति का आदेश सर्वोपरि होता है। आदेश मिलने के बाद वह नहीं सोचता कि उसे वैसा करना है या नहीं करना है। उसका एक ही लक्ष्य रहता है कि बस जो आदेश है उसे पूरा करना है। उसके लिए यदि उसका जीवन भी खतरे में पड़ जाये तो भी वह पीछे नहीं हटता। पतिव्रता नारी के लिए भी पति का आदेश व निर्देश मुख्य है। वस्तुतः जो आज्ञा में-आदेश में जीना सीख लेता है वह महान बन जाता है। आज्ञा में जीना जितना कठिन है, आज्ञा देना भी कोई कम कठिन नहीं है। आज्ञा देने वाले पर भी उसकी जवाबदारी आ जाती है। आज्ञा का पालन यदि सर्वतो भावेन होता है तो उसे जीवन में जो आनन्द आयेगा उसको तौल पाना कठिन ही नहीं अशक्य है। आज्ञा का पालन मन की सहज-सरल वृत्ति होने पर ही हो सकता है। जब तक मन कहीं अटका रहेगा, आज्ञा की पालना हो नहीं पायेगी। मन अटकने के ढेर सारे कारण हैं। क्रोध-मान-माया-लोभादि मन को अटकाने वाले हैं। स्वार्थ और ममत्व भाव भी अटकाने वाले हैं। प्रसन्न चन्द्रराजर्षि ने नरक प्रायोग्य कर्म दलिकों का जो संग्रह किया था वह मन के ही अटकाव से हुआ था। साधु बनने पर भी उसके मन में कहीं पुत्र मोह रहा हुआ था। उसी ने उनसे वैसा करवाया। यदि उस समय तक मन परिष्कृत हो गया होता तो वैसा प्रसंग ही उपस्थित नहीं होता। मन जब स्वार्थ, मान-सम्मान, प्रशंसा आदि में अटका रहता है तो वह आज्ञा-पालन में तर्क-वितर्क पैदा किये बिना नहीं रहेगा। जहाँ तर्क पैदा हुआ नहीं कि आज्ञा-आदेश-विवाद में पड़ा नहीं। गौतम को भगवान ने अन्तिम क्षणों में देव शर्मा ब्राह्मण को उपदेश देने का कहा। इन्द्रभूति गौतम उसे स्वीकार कर उसी में प्रवृत्त हो गये। इसलिए समझना चाहिये कि आज्ञा में न तर्क का प्रवेश हो और न ही मति का। आज्ञा यानी आज्ञा। वहाँ न तर्क है न निवेदन। वहाँ तो बस आज्ञा का पालन ही मुख्य होता है।



## सत्य जीवन की आब है

**श**त्रु भी तुम्हारे पर विश्वास कर सकता है, दुश्मन के दिल में भी तुम्हारे प्रति श्रद्धा हो सकती है, यदि तुम सत्य व सरलता से ही पेश आते हो। बहाना बनाकर एक बारगी कार्य निकाला जा सकता है, किन्तु उसके लिए बहुत बड़ी कीमत चुकानी पड़ती है, यह व्यक्ति तब जान पाता है जब पानी सिर के ऊपर से निकल गया होता है। असत्य व्यवहार से जो विश्वास हटता है, वह लाखों रुपये खर्च करने पर भी बन पाना कठिन है।

लोगों को मन में यदि तुम्हारे प्रति विश्वास है, आस्था है तो समझो वह तुम्हारी अनमोल निधि है। करोड़ों की सम्पत्ति की रक्षा के बजाय उस अनमोल निधि की रक्षा करना ही तुम्हारा लक्ष्य होना चाहिये।

दुनिया का दिल जीतना है तो उसके लिए दो ही बातें मुख्य हैं। पहली बात तुम्हारा आत्मविश्वास गहरा हो। दूसरी बात दूसरों को पूरा विश्वास दे दो। (आत्मविश्वास की पृष्ठभूमि सत्य और सरल व्यवहार)। दूसरों को विश्वास तभी दिया जा सकता है जब स्वयं को उससे भी ज्यादा विश्वास हो।

माया-छल-कपट कुछ समय तक ही तुम्हें जीवित रख सकते हैं। उनसे जीवन की आशा रखना अपने आपको अपने से ठगना है।

यदि कोई कठिन-परिस्थिति में तुम्हारे पास आया हो तो उसे गले लगाने का काम करो। यदि ऐसा नहीं कर सकते हो तो उसे सांत्वना अवश्य देना पर दुत्कारना कभी नहीं।

जीवन अनमोल है। उससे भी बढ़कर सत्य है, सत्य को खोकर जीवन बचाना समझदारी नहीं होगी। सत्य के लिए सौ नहीं हजार बार भी जीवन को दांव पर लगाना पड़े, जीवन का उत्सर्ग करना पड़े तो उसके लिए एक क्षण के लिए भी विचार नहीं करना। कभी विकल्प मत ढूँढ़ना। सत्य के लिए तुम्हारे मस्तिष्क के द्वार खुले रहने चाहिये पर फालतू बातों के लिए कान और मस्तिष्क दोनों बंद रहने चाहिए। सत्य जीवन की आब है। सरलता सत्य की पहचान है।

## असंतुष्टि कारण बाह्य या आन्तरिक

**व्यक्ति** जिस जगह होता है, उससे उसको संतुष्टि कम हो पाती है। वह कुछ और देखता रहता है। संतुष्टि नहीं होना एक बात है पर अशान्त होना एकदम अलग बात है। संतुष्टि न होना विकास के द्वार खोल सकती है पर अशान्ति कभी विकास के द्वार नहीं खोल पायेगी। ऐसी स्थिति में व्यक्ति को यह तय करना चाहिये कि उसके असंतोष का कारण क्या है? असंतोष के कारण कई हो सकते हैं, जैसे-जैसा वह चाहता है वैसा हो नहीं पा रहा है। उसे जितनी अपेक्षा थी, उनकी पूर्ति नहीं होना। जिन लोगों के साथ वह ठीक बातें कर रहा है उनका यथेष्ट या उचित सहयोग न मिलना आदि कई कारण हो सकते हैं। उपर्युक्त कारण समीक्षा चाहते हैं। परिवर्तन चाहते हैं। यदि समीक्षा व परिवर्तन के लिए तैयारी हो तो उस दिशा में कदम बढ़ाये जा सकते हैं। यदि समीक्षा करने का साहस न हो तो उस पर विचार करना व्यर्थ है। जब समीक्षा के लिए भी उचित साहस न हो तो परिवर्तन का तो सोचा भी कैसे जा सकता है। यदि परिवर्तन की सोच भी लें तो प्रश्न वही उठेगा कि क्या उससे संतोष हो जायेगा? उसमें कोई कठिनाई नहीं आयेगी। यदि उसमें कठिनाईयाँ आ सकती हैं तो उसका समाधान कैसे ढूँढ़ा जायेगा? यदि उनका समाधान ढूँढ़ने का तरकीब-उपाय है तो वर्तमान कठिनाईयों के लिए क्या कोई उपाय नहीं है? कोई कार्य किया जाय, उसे प्रारम्भ करने के पहले यह विचार कर लेना चाहिये कि एक नहीं अनेक कठिनाईयाँ-अवरोध बीच में आयेंगे, उनको समाहित करने की जिम्मेदारी भी उसकी ही होगी। अतः असंतुष्टि के कारणों को खोजो एवं उन्हें दूर करने का प्रयत्न करो। जगह, व्यापारदि बदलने से पहले अपने विचारों को, अपने स्वभाव को बदलने की पूरी तैयारी होनी चाहिये। अधिकांश बार देखा गया है कि असंतुष्टि के बाह्य कारण जितने मायने नहीं रखते उससे अधिक व्यक्ति के विचार व स्वभाव मायने रखते हैं। उनको यदि वह बदलता है तो शायद अपने में समाधान पा सकता है।

## शूल भी बन जाते फूल

**शूल** बन जाते हैं फूल। यह कोई मुहावरा नहीं है। यह जीवन का यथार्थ है। जिन्दगी कांटों से भरी हुई है। हर कदम पर शूल चुभते रहते हैं। चुभते रहेंगे। शूलों से पृथ्वी को मुक्त नहीं किया जा सकता है पर व्यक्ति अपनी समझदारी से उन शूलों से बचाव कर सकता है। जैसे पांवों में जूते या चप्पल पहन कर पृथ्वी के द्रव्य शूलों से बचाव किया जा सकता है वैसे ही भावात्मक रूप से प्रतिकूल अवस्थाओं को भी अनुकूल अनुभव किया जा सकता है। अर्जुन अणगार का उदात्त चारित्र सर्चलाईट की तरह है। किसी ने कठोर शब्दों से भर्त्सना की तो किसी ने पत्थर या डण्डे से प्रहार भी कर दिया किन्तु उन्होंने उसे सकारात्मक भावों से स्वीकार किया। जब व्यक्ति यह सोच ले-जान ले कि यह मेरे द्वारा बोये गये बीजों का ही परिणाम है तो वे शूल-फूल बन जायेंगे। अर्जुन मुनि को वे प्रतिकूल परिषह सता नहीं पाये। परेशान कर नहीं पाए। प्रतिकूल स्थिति में व्यक्ति को अध्यात्म परक चिन्तन को उर्वर करना चाहिये। जो प्रतिकूलताएँ पैदा कर रहा हो, उसके लिए वह अनुकूल बना रहे। यथा **‘जो ताको कांटा बुए ताहि बो तू फूल’** जो तुम्हारे लिए कांटा बो रहा हो, तुम उसके लिए फूल बोओ। जो प्रतिकूलताएँ पैदा की जा रही हैं, उसे अपना उपकारी समझो। उसे अपना परीक्षक समझो कि यह मेरी परीक्षा ले रहा है। भगवान महावीर का, उपसर्ग कर्ता संगम देव पर भी वात्सल्य ही वर्षा। उन्होंने उन्हें (उपसर्गों को) शूल नहीं माना। उससे उन्होंने जो कर्म क्षय किये, उससे जीवन में फूल खिल गये। एक भक्त के ये वचन बड़े मार्मिक हैं-

‘तेरे काँटों से भी प्यार, तेरे फूलों से भी प्यार’ ज़िंदगी में चाहे कांटें आए या फूल दोनों के प्रति व्यक्ति का एक ही भाव रहे। उस स्थिति में वह अनुभव कर सकता है कि शूल भी बन जाते फूल

## जीवन की सही दिशा

**राग-द्वेष** को भाव कर्म अथवा कर्म का बीज कहा गया है। राग-द्वेष रूपी बीज के मौजूद रहते योग रूपी खाद-पानी के संयोग से कर्म बन्ध की परम्परा बनी रहती है। राग-द्वेष स्वयं में विशेष शक्ति सम्पन्न नहीं है। मिथ्यात्व का पीठ बल मिलने से वे स्वयं को पाँवरफुल मान लेते हैं। पाँवरफुल हो भी जाते हैं। किसी राजनेता का पीठ बल प्राप्त हो तो साधारण व्यक्ति भी सामर्थ्यवान बन जाता है। उसका सामर्थ्य बढ़ भी जाता है। वैसे ही मिथ्यात्व के पीठ बल से राग-द्वेष भी सशक्त हो जाता है। उनकी क्षमता बढ़ जाती है। कर्म बन्धन की प्रक्रिया को यदि शिथिल करना है तो जरूरी है राग-द्वेष को पाँवरलेश-शक्तिहीन करना। उनका पाँवर कम करना। वह तब हो पायेगा जब उसका पीठ बल हटे। अतः मिथ्यात्व को ढहाना सबसे पहली जरूरत है। मिथ्यात्व का वश सर्वत्र है। यदि वह मंद पड़ता है या नष्ट होता है तो एक मात्र केवली भगवन के चरण-शरण से अथवा उनके द्वारा प्ररूपित धर्म की शरण स्वीकार करने से। धर्म स्वीकार से व्यक्ति का वैचारिक सिस्टम बदल जाता है, क्योंकि मिथ्यात्व की छाया-प्रभाव से वह परे हो जाता है। परिणामस्वरूप राग-द्वेष-कषाय शिथिल हो जाते हैं। जिससे वह उनको कुचल सकता है अथवा उनको फलने-फूलने नहीं देता। बस, इसी से उसका दृष्टिकोण सम्यक् बन जाता है। उससे कर्म बन्धन के स्थान पर वह कर्मक्षय की प्रक्रिया से जुड़ जाता है। एक प्रकार से जो कम्पनी पहले घाटे में जा रही थी वह अब मुनाफे में आने लगती है। आ जाती है। इसलिए मिथ्यात्व की दीवार को ढहाकर आत्म-विकास की दिशा में आगे बढ़ना चाहिये। मिथ्यात्व के ढहने से सोच सही हो जाती है। उससे वह जो सोचता है, उसे ठीक से समझता भी है। वह सही दिशा में ही अपने कदमों को गति देने में समर्थ हो पाता है। एक तीर्थकर देवों की शरण किंवा उनके धर्म का आश्रय जीवन को सही दिशा देने वाला होता है। उसकी प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील होना चाहिये।

















































